गंगा-पुस्तकमाला का तिरसठवाँ पुष्प

# प्राचीन पंडित और कवि

महावीरप्रसाद द्विवेदी

# प्राचीन पंडित और कवि

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव

गंगा-पुस्तकमाला का तिरसठवाँ पुष्प

# प्राचीन पंडित और कवि

लेखक
महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

रेशमी जिल्द १।=) ] संवत् १९८३ वि० [ सादी ॥।=)

# भूमिका

भवभूति ने जिस पद्मावती नगरी का वर्णन किया है उसका निश्चित पता लग गया। इसका सारा श्रेय श्रीयुत माधवराव वेंकटेश लेले को है। वे कुछ समय तक ग्वालियर में थे। वहीं उन्होंने इस प्राचीन नगरी के चिह्नों का पता लगाया। झाँसी से जो रेलवे लाइन ग्वालियर होकर आगरा-देहली को जाती है उस पर, झाँसी और ग्वालियर के बीच, डबरा नाम का एक स्टेशन है। वहाँ से कोई १२ मील दूर पवाया-नामक एक छोटा-सा गाँव है। यह गाँव भवभूति की सिंधु ( सिंध ) और पारा ( पार्वती ) नदियों के संगम पर बसा हुआ है। वहाँ से कोई दो मील दक्षिण-पश्चिम सिंधु-नदी का प्रपात है। उसी के विषय में भवभूति ने लिखा है—"अयमसौ भगवत्याः सिन्धोर्दारितरसातलस्तटप्रपातः"।

फिर जिस लवणा ( नून ) और मधुमती ( मधुवर ) का उल्लेख भवभूति ने किया है वे भी पवाया के पास ही हैं। पवाया से दो ही मील पर महुवर-नदी सिंधु में गिरी है और उनके ठीक संगम पर एक प्राचीन शिवलिंग भी है। मंदिर तो अब नहीं रहा; उसकी जगह पर एक चबूतरा अवश्य है। पर लिंग अब तक वर्तमान है और यह लिंग भवभूति के सुवर्णबिंदु-नामक शिव का ही लिंग होगा।

अतएव पद्मावती नगरी यहीं रही होगी, इसमें संदेह नहीं। वहाँ पुरानी इमारतों के कुछ चिह्न और धुस्स अब तक विद्यमान हैं। वे सब ईसा की पहली शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के हैं। प्राचीन नाग-वंश के राजाओं के सिक्के तो आज तक सैकड़ों मिल चुके हैं और अब तक मिलते जाते हैं। ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी का एक शिला-लेख भी संस्कृत में मिला है। लिपि उसकी ब्राह्मी है। ग्वालियर-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष, मिस्टर एम्० बी० गर्दे, ने इस लेख का संपादन किया है। लेख में मणिभद्र-नामक देवता की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। यह मूर्ति भी टूटी-फूटी अवस्था में मिली है। लेख राजा शिवनंदी के समय में खोदा गया था। पर इस राजा का कुछ भी ऐतिहासिक हाल अब तक नहीं मालूम हुआ। पवाया के निवासी परंपरा से सुनते आये हैं कि वहाँ पहले एक प्रसिद्ध राजधानी थी और अनेक प्रतापी नरेश वहाँ हो गये हैं। यहाँ तक कि वे लोग संकल्प में "पद्मावती-महा-संगमक्षेत्रे" का अब तक उल्लेख भी करते हैं। इससे सिद्ध है कि मालतीमाधव में भवभूति की उल्लिखित पद्मावती नगरी वहीं पर थी जहाँ पर अब पवाया-नामक छोटा-सा गाँव है। यदि आठवीं शताब्दी में ग्वालियर के आसपास का प्रांत विदर्भ-देश कहाता रहा हो तो, कुछ लोगों के अनु-मान के अनुसार, पद्मावती ही भवभूति की जन्मभूमि

पद्मपुर हो सकता है। अन्यथा बरार में वह कहीं और ही जगह रहा होगा।

इस छोटी-सी पुस्तक में ८ प्राचीन विद्वानों के विषय में लिखे गये लेखों का संग्रह है। सुखदेव मिश्र बहुत पुराने नहीं, पर कल की भी बात आज पुरानी हो जाती है। इस दृष्टि से वे भी नये नहीं, क्योंकि उनको भी हुए इस समय कोई दो सौ वर्ष हो चुके। इसके सिवा उनके चरित में विलक्षणतापूर्ण कुछ अलौकिक बातें भी हैं, जिनसे विशेष मनोरंजन हो सकता है। इस संग्रह के लेखों में कवियों के समय के क्रम का विचार नहीं किया गया। जो लेख पहले का है उसे पहले, जो उसके बाद का है वह उसके बाद रक्खा गया है। अतएव यह क्रम लेखों के समय के अनुसार है, कवियों और पंडितों के समय के अनुसार नहीं।

यदि यह पुस्तक हिंदी के प्रेमियों को पसंद आई तो हम भिन्न-भिन्न विषयों के अपने अन्यान्य लेख भी पुस्तकरूप में प्रकाशित करेंगे।

कमरशल प्रेस,<br>
जुही, कानपुर—नवंबर १९१८ } महावीरप्रसाद द्विवेदी

# सूची


| | पृष्ठ |
|---|---|
| १—भवभूति ... ... ... | १ |
| २—लोलिंबराज ... ... ... | २२ |
| ३—फ़ारसी-कवि हाफ़िज़ ... ... | ४६ |
| ४—बौद्धाचार्य शीलभद्र ... ... | ६२ |
| ५—मधुरवाणी ... ... ... | ७० |
| ६—सुखदेव मिश्र ... ... ... | ७८ |
| ७—हीरविजय सूरि ... ... | १०७ |
| ८—आचार्य दिङ्नाग ... ... | १२८ |

# प्राचीन पंडित और कवि
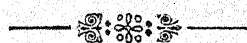
## भवभूति

प्राचीन कवियों, पंडितों और नाटककारों के विषय में दो-एक को छोड़कर हिंदी के अन्य अनुरागी सज्जन प्रायः कभी कुछ लिखते ही नहीं। हिंदी का साहित्य इस प्रकार के निबंधों से शून्य-सा हो रहा है। जैसे और-और बातों में बँगला और मराठी-भाषा का साहित्य हिंदी के साहित्य से बढ़ा हुआ है, वैसे ही वह इस विषय में भी है। महामहोपाध्याय सतीशचंद्र विद्याभूषण, पंडित विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर और पंडित माधवराव वेंकटेश लेले इत्यादि विद्वानों ने, अपनी-अपनी देश-भाषा में, भवभूति के विषय में, बहुत कुछ लिखा है। प्रोफ़ेसर विलसन, सर मानियर विलियम्स, कोलब्रुक, भांडारकर और दत्त इत्यादि ने भी भवभूति और उसके नाटकों की प्रशंसा करने में अपनी लेखनी का सदुपयोग किया है। परंतु, हिंदी में, जहाँ तक हम जानते हैं, भवभूति के विषय में किसी ने कुछ नहीं लिखा।

विष्णु शास्त्री ने कालिदास, भवभूति, बाण, सुबंधु और दंडी, इन पाँच प्राचीन कवियों पर, मराठी में, पाँच निबंध

लिखकर इन पाँचों के समाहार का नाम "संस्कृत-कविपंचक" रक्खा है। शास्त्री महाशय ने भवभूति को छोड़कर शेष चार कवियों के समय का निरूपण भी यथाशक्य किया है और उनके विषय में, जहाँ तक संभव था, गवेषणा भी की है। परंतु भवभूति के समय के विषय में उन्होंने बहुत ही कम लिखा है। उनके कथन का आशय यह है—केवल मृच्छकटिक, प्रबोधचंद्रोदय, नागानंद इत्यादि नाटकों में और दशकुमारचरित इत्यादि ग्रंथों में उस समय के जनसमूह की स्थिति का कुछ परिचय मिलता है। इसलिये भवभूति को कालिदास का समसामयिक मानने की अपेक्षा जिस समय ये ग्रंथ निर्मित हुए हैं उस समय के आसपास उसका अस्तित्व स्वीकार करना विशेष युक्तिसंगत है।

विष्णु शास्त्री ने जिनका नाम दिया है वे प्रायः सातवीं शताब्दी के ग्रंथ हैं। जैसे इन ग्रंथों में दीर्घ समासों की प्रचुरता है, वैसे ही भवभूति के नाटकों में भी है। जैसे इनमें बौद्ध-धर्मावलंबियों के चरित का कहीं-कहीं चित्र खींचा गया है, वैसे ही भवभूति के मालतीमाधव में भी खींचा गया है। इसीलिये विष्णु शास्त्री ने शूद्रक, कृष्ण मिश्र, बाण और दंडी के समय के सन्निकट भवभूति का होना अनुमान किया है। इतना ही लिखकर वे चुप हो गए हैं; भवभूति के समय का विशेष निरूपण उन्होंने नहीं किया।

राजतरंगिणी के चतुर्थ तरंग में लिखा है—

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्
(श्लोक १४५)

अर्थात्, वाक्पतिराज और भवभूति आदि कवियों से सेवा किए गए यशोवर्मा ने (ललितादित्य से) परास्त होकर उस विजयी का गुण गाया। यशोवर्मा नाम का राजा सन् ६९३ से ७२९ ईसवी तक क़न्नौज के राज्यासन पर आसीन था। इस यशोवर्मा को काश्मीर के राजा ललितादित्य ने परास्त किया, और भवभूति को अपने साथ वह काश्मीर ले गया। इससे यह सिद्ध है कि भवभूति, अष्टम शताब्दी के आरंभ में, कान्यकुब्जाधिप यशोवर्मा की सभा में, उसका आश्रित होकर, विद्यमान था। अतएव "यह कहना समुचित नहीं जान पड़ता कि भवभूति को राजाश्रय था; यदि उसे राजाश्रय होता तो उसके तीनों नाटकों का प्रयोग कालप्रियनाथ की यात्रा ही के समय क्यों होता?", विष्णु शास्त्री की यह उक्ति बिलकुल निराधार है। भवभूति को राजाश्रय अवश्य था। कालप्रियनाथ की यात्रा ही के समय उसके नाटकों का क्यों प्रयोग हुआ, इसका कोई कारण होगा। भवभूति ने यशोवर्मा को सभा में स्थान पाने के पहले ही शायद अपने नाटक लिखे हों; अथवा यशोवर्मा के पराजय के अनंतर काश्मीर जाकर और वहाँ से राजाश्रय-

हीन होकर, स्वदेश को लौटने पर, शायद उसने उन्हें बनाया हो; अथवा राजधानी की अपेक्षा यात्राओं में अधिक जन-समूह एकत्र होने के कारण उसी अवसर पर शायद उसने अपने नाटकों का प्रयोग किया जाना प्रशस्त समझा हो।

कुछ वर्ष हुए, डॉक्टर बूलर को एक "गौडवहो" (गौड़वध)-नामक प्राकृत काव्य मिला। इस काव्य को श्रीयुत पांडुरंग ने बंबई में छपाकर प्रकाशित किया है। इसके कर्ता वही वाक्पतिराज हैं, जो यशोवर्मा की सभा में विद्यमान थे। उन्होंने "गौड़-वध" में यशोवर्मा का विस्तृत वृत्तांत लिखा है और तद्द्वारा गौड़देश के राजा का पराजय वर्णन किया है। इस काव्य में वाक्पतिराज ने अपनी कविता के संबंध में लिखा है—

प्राकृत

भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा इव स्फुरन्ति
जस्स विसेसा अज्जवि बियडेसु कहापबंधेसु

संस्कृत

भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथाप्रबन्धेषु

अर्थात्, भवभूतिरूपी जलनिधि से निकले हुए काव्यरूपी अमृत के कणों के समान जिसके निबंधों में अनेक विशेष-विशेष गुण अद्यापि चमक रहे हैं। इससे भी वाक्पतिराज के साथ भवभूति का, यशोवर्मा के यहाँ अष्टम शताब्दी के प्रारंभ में, होना सूचित होता है।

कई वर्ष हुए, हमारे मित्र पंडित माधवराव, वेंकटेश लेले को, बंबई में, एक प्राचीन हस्त-लिखित मालतीमाधव की पुस्तक मिली। उसमें "भट्टकुमारिलशिष्यभट्टभवभूति" लिखा है। "गौड़वध" की भूमिका में भी लिखा है कि इंदौर में मालतीमाधव की एक पुस्तक मिली है, जिसमें "इति—कुमारिल-शिष्यकृते" लिखा है। कुमारिल भट्ट सप्तम शताब्दी के अंत में हुए हैं। अतएव भवभूति का अष्टम शताब्दी के आदि में होना सब प्रकार सुसंगत है।

शंकरदिग्विजय में लिखा है कि विद्धशालभंजिका और बालरामायण आदि के कर्ता राजशेखर के यहाँ शंकराचार्य गए थे, और उनके बनाए नाटक आचार्य ने देखे थे। इससे राजशेखर और शंकर की समकालीनता प्रकट होती है। राजशेखर अपने बालरामायण में लिखते हैं—

बभूव वल्मीकभुवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेदुताम्
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः

अर्थात्, पहले वाल्मीकि कवि हुए। फिर भर्तृहरि ने जन्म लिया; तदनंतर जो भवभूति-नाम से प्रसिद्ध था, वह अब राजशेखर के रूप में वर्तमान है। शंकराचार्य अष्टम शताब्दी के अंत में हुए हैं। अतएव राजशेखर का अस्तित्व भी उसी समय सिद्ध है। जब यह सिद्ध है तब ऊपर दिए गए श्लोक

के अनुसार भवभूति का समय राजशेखर से कुछ ही पहले, अर्थात् अष्टम शताब्दी के आरंभ में, होना भी सिद्ध है।

सप्तम शताब्दी के मध्य में होनेवाले बाण कवि ने अपने हर्षचरित में जिन कवियों के नाम दिए हैं, उनमें भवभूति का नाम न दिया जाना भी बाण के अनंतर भवभूति का होना सिद्ध करता है।

भवभूति ने महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तर-रामचरित—ये* तीन नाटक लिखे हैं। इनमें से अंतिम में अल्प और पहले के दोनों नाटकों में किंचिद् विशेष रूप से उसने अपने जन्मस्थान आदि का वृत्तांत लिखा है। महावीरचरित में अपने विषय में जो कुछ भवभूति ने लिखा है, वह यह है—

"अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयिणः काश्यपाश्चरणगुरवः पंक्तिपावनाः पंचाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरा ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। तदामुष्यायणस्य तत्र भवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पंचमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकंठस्यात्मसम्भवः श्रीकंठपदलांछनो भवभूतिर्नाम जातूकर्णीपुत्रः।

---

*डॉक्टर भांडारकर लिखते हैं कि शार्ङ्गधर-पद्धति में—

निरवद्यानि पद्यानि यदि नाट्यस्य का क्षतिः
भिक्षुकक्षविनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसो भवेत्

यह श्लोक भवभूति के नाम से निर्दिष्ट है, जिससे सूचित होता है कि इस कवि ने इन तीन नाटकों के अतिरिक्त और भी कोई ग्रन्थ लिखा है; क्योंकि यह श्लोक इन तीनों पुस्तकों में नहीं पाया जाता।

श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षीणामिवांगिराः
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः

अर्थात्, दक्षिण में पद्मपुर नाम नगर है, जहाँ यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा का अध्ययन करनेवाले, व्रतधारी, सोम-यज्ञकारी, पंक्तिपावन, पंचाग्निक, ब्रह्मवादी, काश्यपगोत्रीय उडुंबर ब्राह्मण रहते हैं। उनके यहाँ वाजपेय-यज्ञ करनेवाले, पुण्यशील, भट्ट गोपाल-नामक महाकवि का प्रादुर्भाव हुआ। भट्ट गोपाल के पौत्र, और पवित्रकीर्ति पिता नीलकंठ तथा माता जातूकर्णी के पुत्र, श्रीकंठ-उपाधि-भूषित भवभूति का वहीं जन्म हुआ। परमहंसों में श्रेष्ठ और महर्षियों में अंगिरा के समान जिस( भवभूति )के गुरु भगवान् ज्ञाननिधि* नाम यथार्थ में ज्ञाननिधि ही हैं।

इसी का सारांश विष्णु शास्त्री ने, अपने भवभूति-नामक निबंध में, इस प्रकार लिखा है—

"दक्षिण-देश के अंतर्गत पद्मपुर-नगर में उडुंबर-नामक तपोनिष्ठ ब्राह्मण रहते हैं। उन्हीं के वंश में गोपाल-भट्ट का जन्म हुआ। गोपाल भट्ट के नीलकंठ-नामक पुत्र हुआ और नीलकंठ के भवभूति-नामक। भवभूति की माता का नाम जातूकर्णी था। पीछे से यह कवि भट्ट-श्रीकंठ नाम से भी पुकारा जाने लगा।"

परंतु इस विषय में उन्होंने और अधिक चर्चा नहीं की; इतना ही कहकर वह चुप हो गए हैं।

---

*कुमारिल भट्ट ही का नाम ज्ञाननिधि तो नहीं ?

महावीरचरित से जो पंक्तियाँ हमने उद्धृत की हैं वही पंक्तियाँ, कुछ परिवर्तित रूप में, मालतीमाधव में भी हैं। वहाँ उनका आरंभ इस प्रकार हुआ है—"अस्ति दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मनगरं नाम नगरम्"—जिससे सिद्ध होता है कि दक्षिणापथ के विदर्भ-देश में पद्मपुर अथवा पद्मनगर था। विदर्भ का आधुनिक नाम बरार है; परंतु बरार-प्रांत में पद्मपुर का कहीं पता नहीं। यह नगर इस समय अस्तित्वहीन हो गया जान पड़ता है। मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर ने पद्मपुर और पद्मावती में अभेद बतलाया है, यह ठीक नहीं। पद्मावती, मालतीमाधव में वर्णन किए गए मालती और माधव के विवाहादि का घटना-स्थल है। डॉक्टर भांडारकर का मत है कि भवभूति का जन्मस्थान बरार में कहीं चाँदा के पास रहा होगा। वहाँ कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखावाले अनेक महाराष्ट्र-ब्राह्मण अब तक रहते हैं। उनकी देशस्थ संज्ञा है और उनका सूत्र आपस्तंब है। चाँदा के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व उसी वेद और उसी सूत्रवाले अनेक तैलंग ब्राह्मण भी रहते हैं। भवभूति ने अपने नाटकों में गोदावरी का जो वर्णन किया है उससे जान पड़ता है कि वह उस नदी से विशेष परिचित था। पद्मपुर शायद गोदावरी के तट पर ही अथवा कहीं उसके पास ही रहा होगा।

मालतीमाधव की घटनाएँ पद्मावती-नगरी में हुई हैं। कवि ने इस नगरी के चिह्नों का कुछ-कुछ पता दिया है।

चतुर्थ अंक के अंत में माधव से उसका सखा मकरंद कहता है—"तदुत्तिष्ठ पारासिन्धुसम्भेदमवगाह्य नगरीमेव प्रविशावः—" जिससे विदित होता है कि पारा और सिंधु नाम की दो नदियों के संगम पर पद्मावती-नगरी बसी थी। इस बात को कवि ने नवम अंक के आरंभ में पुनरपि पुष्ट किया है। वहाँ उसने लिखा है—

पद्मावतीविमलवारिविशालसिन्धु-
पारासरित्परिकरच्छलतो बिभर्ति
उत्तुङ्गसौधसुरमन्दिरगोपुराट्ट-
संघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम्
सैषा विभाति लवणा ललितोर्म्मिपंक्ति-
र्यस्यागमे जनपदप्रमदाय यस्याः
गोगर्भिणीप्रियनवोपलमालभारि-
सेव्योपकण्ठविपिनावलयो विभान्ति

यहाँ एक लवणा-नदी का भी नाम आया है, जिससे सूचित होता है कि पद्मावती के पास ही लवणा भी बहती थी। इसी अंक में, कुछ दूर आगे, लिखा है—

"अयञ्च मधुमतीसिन्धुसम्भेदपावनो भगवान् भवानीपतिरपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णबिन्दुरित्याख्यायते।"

इससे यह भी जाना जाता है कि वहाँ मधुमती नाम की भी नदी थी और उसके तथा सिंधु के संगम पर सुवर्णबिंदु-

नामक शंकर का मंदिर था। जनरल कनिंहम और पंडित वामन-शिवराम आपटे का मत है कि ग्वालियर-राज्य के अंतर्गत मालवा-प्रांत का नरवर-नगर ही प्राचीन पद्मावती है। नरवर सिंध (प्राचीन सिंधु)-नदी पर बसा है, और उसके पास ही पार्वती (प्राचीन पारा), लोन (प्राचीन लवणा) और मधुवर (प्राचीन मधुमती)-नदियाँ बहती हैं। यह पहचान जँचती तो ठीक है; परंतु पारा और सिंधु के संगम से नरवर कोई २५ मील है। इसी से डॉक्टर भांडारकर कहते हैं कि नरवर से हटकर, कहीं दूसरे स्थान पर, पद्मावती रही होगी। विक्रमादित्य के समय से ही और प्रांतों की अपेक्षा मालवा-प्रांत ने विद्या-बुद्धि में विशेष ख्याति प्राप्त की थी। इसी से राजमंत्रियों तक के लड़के विदर्भ-देश से पद्मावती में आन्वीक्षिकी-विद्या (न्याय-शास्त्र) पढ़ने आते थे। संभव है, विदर्भ से कान्यकुब्ज जाते समय, अथवा काश्मीर से लौटते समय, भवभूति पद्मावती ही के मार्ग से गया हो, और उस नगर की तथा उसके निकट बहनेवाली नदियों की शोभा प्रत्यक्ष देखकर मालतीमाधव में उनका वर्णन उसने किया हो। पद्मावती में विद्या की विशेष चर्चा थी; अतएव भवभूति का वहाँ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने अपने निबंध में यह बात सिद्ध की है कि जैसे एक ही अर्थ के व्यंजक पृथक्-पृथक् पद्य

कालिदास ने अपने पृथक्-पृथक् ग्रंथों में लिखे हैं वैसे भव-भूति ने नहीं लिखे। अर्थात् भवभूति ने एक ही भाव का पिष्टपेषण करके उसे अनेक स्थलों में पद्य-बद्ध नहीं किया। यह हम भी मानते हैं। परंतु शास्त्रीजी के इस कहने से हम सहमत नहीं कि "विचारों के विषय में, हम, यहाँ पर, एक बात और कहना चाहते हैं। वह यह कि वे स्वयं कवि के हैं; और काव्यों का किंचिन्मात्र भी आधार उनको नहीं—" शास्त्रीजी का आशय शायद यह है कि भवभूति के नाटकों में उसके पूर्ववर्ती कवियों की छाया तक नहीं पाई जाती। स्वयं शास्त्रीजी को एक ऐसा उदाहरण मिला है, जिसमें भवभूति-कृत मालतीमाधव के—

"वारं वारं तिरयति दृशोरुद्गमं वाष्पपूरः"

इस श्लोक का भाव और कालिदास-कृत मेघदूत के "त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्*" इस श्लोक का भाव एक ही है। परंतु यहाँ पर शास्त्रीजी ने भवभूतिरूपी शिष्य को कालिदासरूपी गुरु से बढ़ गया बतलाकर अपने कथन को दृढ़ किया है और कहा है कि इस अर्थसाम्य से उनके मत में बाधा नहीं आ सकती। हम यह नहीं कहते कि भवभूति ने कालिदास अथवा अपने और किसी पूर्ववर्ती कवि के विचारों की चोरी की है; परंतु, हाँ,

* शकुंतला और विक्रमोर्वशी में भी कालिदास की एक उक्ति इसी प्रकार की है।

हम यह अवश्य कहते हैं कि भवभूति, कालिदास और शूद्रक आदि की अनेक उक्तियों में परस्पर समता अवश्य है। महामहोपाध्याय सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम्० ए०, ने इस विषय के बहुत-से उदाहरण दिए हैं; परंतु हम थोड़े ही उदाहरण देकर संतोष करेंगे। देखिए—

१. कालिदास—कुवलयितगवाक्षां लोचनैरंगनानाम्।
(रघुवंश, स० ११)

भवभूति—कटाक्षैर्नारीणां कुवलयितवातायनमिव।
(मालतीमाधव, अं० २)

२. कालिदास—मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः।
(रघुवंश, स० १४)

भवभूति—दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम्।
(उत्तररामचरित, अं० १)

३. कालिदास—गुणैर्हि सर्वत्र पदं निधीयते।
(रघुवंश, स० ३)

भवभूति—गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।
(उत्तररामचरित, अं० ४)

४. कालिदास—पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः
कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः।
(रघुवंश, स० ५)

भवभूति—कलाशेषा मूर्तिः शशिन इव नेत्रोत्सवकरी।
(मालतीमाधव, अं० २)

५. कालिदास—तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं
स्तनसम्बाधमुरो जघान च
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो
विवृतद्वारमिवोपजायते
(कुमारसंभव, स० ४)

भवभूति—सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां
दुःखानि सद्बन्धुवियोगजानि
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि
स्रोतःसहस्रैरिव संप्लवन्ते
(उत्तररामचरित, अं० ४)

६. शूद्रक—न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्।
(मृच्छकटिक, अं० १)

भवभूति—शरीरनिर्म्माणसदृशो ननु अस्य अनुभावः।
(वीरचरित, अं० १)

भिद्येत वा सद्वृत्तमीदृशस्य निर्माणस्य।
(उत्तररामचरित, अं० ४)

७. क्षेमेंद्र—सत्ता सदसदोर्नास्ति रागः पश्यति रम्यताम्।
स तस्य ललितो लोके यो यस्य दयितो जनः॥
(अवदानकल्पलता १०।६६)

भवभूति—अकिञ्चिदपि कुर्व्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥
(उत्तररामचरित, अं० ६)

कालिदास, शूद्रक और क्षेमेंद्र; ये तीनों कवि भवभूति से पहले हुए हैं। इनकी उक्तियों की छाया भवभूति के पद्यों में, अनेक स्थलों पर, पाई जाती है। यह चाहे इन कवियों के काव्यों के पाठ से भवभूति के हृदय में उत्पन्न हुए संस्कार-विशेष का फल हो; चाहे यों ही घुणाक्षर-न्याय से पूर्व-कवियों की उक्तियों का भाव उसकी उक्तियों में आ गया हो। कुछ ही क्यों न हो, कहीं-कहीं साम्य अवश्य है।

अनेक विद्वानों का मत है कि भवभूति ने पहले महावीर-चरित, फिर मालतीमाधव और फिर उत्तररामचरित लिखा है। इन ग्रंथों की लेख-प्रणाली, इनके अर्थ-गौरव और इनके रसाल भावों का विचार करने से यह सिद्धांत युक्तिसंगत जान पड़ता है। महावीरचरित में वीर, मालतीमाधव में शृंगार और उत्तररामचरित में करुण-रस की प्रधानता है। इन नाटकों में क्या गुण है, और क्यों भवभूति की इतनी प्रशंसा होती है, इन सब बातों का विचार विष्णु शास्त्री ने बड़ी ही योग्यता से अपने निबंध में किया है। अनेक उत्तमोत्तम पद्य उद्धृत करके उन्होंने उनकी युक्ति-पूर्ण समीक्षा की है। भवभूति के नाटकों के कथानक की भी शास्त्रीजी ने प्रशंसा की है। परंतु मालतीमाधव के कथानक के संबंध में, डॉक्टर भांडारकर की सम्मति उनकी सम्मति से नहीं मिलती। डॉक्टर साहब का कथन है कि इस नाटक में जो श्मशान-वर्णन है, वह असंबद्ध-सा है; मूल-कथानक में

वह जोड़-सा दिया गया है। वे यह भी कहते हैं कि कपाल-कुंडला के द्वारा मालती का हरण किया जाना कवि ने केवल इसलिये दिखाया है, जिससे वियोगियों की दशा का वर्णन करने के लिये उसे अवसर मिले। डॉक्टर भांडारकर ने और भी दो-एक बातें, शास्त्रीजी के मत के प्रतिकूल, कही हैं। डॉक्टर साहब के बतलाए हुए दोष ऐसे हैं जो सामान्य जनों के ध्यान में नहीं आ सकते। नाट्य-शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में ऊपर कही बातें चाहे भले ही सदोष हों, परंतु हम, इस विषय में, यह अवश्य कहेंगे कि भवभूति का किया हुआ श्मशान-वर्णन अद्वितीय है। बीभत्स-रस का ऐसा अच्छा उदाहरण संस्कृत के और नाटकों अथवा काव्यों में हमने नहीं देखा। भवभूति का विप्रलंभ-वर्णन भी एक अद्भुत वस्तु है। अतएव भवभूति के ये दोष यदि दोष कहे जा सकते हैं तो क्षम्य हैं। यदि वह इन उपर्युक्त बातों को मालतीमाधव से निकाल डालता, तो हम बीभत्स और वियोग-शृंगार के अलौकिक रस से परिप्लुत उसकी अनूठी कविता से भी वंचित रहते। पंडित माधवराव वेंकटेश लेले ने भवभूति के सब नाटकों की समालोचना मराठी में की है और अनेक दोष दिखलाए हैं; परंतु इस छोटे-से निबंध में हम उन सब दोषों का विचार नहीं कर सकते।

अपने नाटकों के बनाने का कारण भवभूति ने कहीं भी स्पष्ट नहीं लिखा। परंतु उसके नाटकत्रय में वर्णित

वस्तुजात और पात्रों के क्रिया-कलाप आदि से उस बात का पता लगता है। जिस समय भवभूति का प्रादुर्भाव हुआ उस समय, इस देश में, बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। षष्ठ शताब्दी में उद्योतकर, सप्तम शताब्दी में कुमारिल भट्ट और अष्टम शताब्दी में शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म को उच्छिन्न करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। वैदिक धर्म के प्रतिपादन और बौद्ध धर्म का संहार करने के लिये इन महात्माओं ने जो कुछ किया है वही भवभूति ने भी किया है। इन्होंने स्पष्ट रीति से बौद्ध धर्म का खंडन किया है; परंतु भवभूति ने स्पष्ट कुछ नहीं कहा। अनेक स्थलों पर अपने नाटकों में वैदिक धर्म की श्रेष्ठता और बौद्ध धर्म की हीनता के उदाहरण दिखलाते हुए, दोनों प्रकार के धर्मावलंबियों की दिनचर्या का चित्र खींचकर, भवभूति ने सब मर्म अभिनय देखनेवालों के सम्मुख उपस्थित कर दिया है, जिसका यही तात्पर्य है कि वैदिक धर्म ग्राह्य और बौद्ध धर्म त्याज्य है।

मालतीमाधव की प्रसिद्ध पात्री कामंदकी बौद्ध संन्यासिनी थी। वह अपने आश्रम-धर्म के विपरीत मालती और माधव को विवाह-सूत्र से बाँधने के बखेड़े में पड़ी थी। उसकी शिष्य सौदामिनी बौद्ध संप्रदाय का त्याग करके अघोरघंट और कपालकुंडला के तांत्रिक जाल में फँसी थी। ये तांत्रिक ऐसे दुराचारी और नृशंस थे कि अपनी

इष्टदेवी चामुंडा के सम्मुख, समय-समय पर, नर-बलि दिया करते थे। मालतीमाधव का यह चित्र बौद्ध धर्म के अधःपतन का दर्शक है। वैदिक धर्म के अनुयायियों की श्रेष्ठता का चित्र वीरचरित और उत्तरचरित में है। इन दोनों नाटकों में रामचंद्र, लक्ष्मण, लव, कुश, सौधातकि, जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र और जानकी आदि के चित्रों द्वारा भव-भूति ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, राजा, प्रजा और तपस्विवर्ग के आचारों और व्यवहारों का ऐसा अच्छा आदर्श दिखलाया है, जिसको देखने से वैदिक धर्म का स्वरूप नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है और उस पर आंतरिक श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। दोनों धर्मों के अनुयायियों के आचरणानुरूप दो प्रकार के उच्च और नीच चित्र चित्रित करके कवि ने उनकी उच्चता और नीचता का भेद बड़े ही कौशल से दिखाया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने यह सब बौद्ध धर्म की दुरवस्था सूचित करने और अभिनय देखनेवालों के मन में उस ओर अनास्था उत्पन्न करने ही के लिए किया है। भवभूति के पूर्ववर्ती विद्वानों ने बौद्ध धर्म को छिन्नमूल करने के लिए उस पर प्रत्यक्ष कुठार-प्रयोग किया था; परंतु भवभूति ने वही काम उस संप्रदायवालों को, प्रकाश रूप से बिना किसी प्रकार का मानसिक क्लेश पहुँचाये, अपने नाटकों द्वारा कर दिखाया। भवभूति के नाटकों को विचार-पूर्वक देखने से

यही भावना मन में उत्पन्न होती है कि बौद्ध धर्म निस्सार और वैदिक धर्म परम सारवान् है।

नाटक लिखने में भवभूति का आसन कालिदास से कुछ ही नीचे है। कोई-कोई तो उसे कालिदास का समकक्ष और कोई-कोई उससे भी बढ़ गया बतलाते हैं। भवभूति ने मनुष्यों के आंतरिक भावों का कहीं-कहीं ऐसा उत्कृष्ट और ऐसा सजीव चित्र खींचा है कि उसे देखकर कालिदास का विस्मरण हो जाता है। खेद है, उसकी इस अद्भुत शक्ति का विकाश देखने और उसके द्वारा एक अकथनीय आनंद प्राप्त करने के लिए केवल हिंदी जाननेवालों का मार्ग रुद्ध-सा हो रहा है। हाँ, यह सत्य है कि एक पुराने लेखक ने भवभूति के तीनों नाटकों के अनुवाद हिंदी में किए हैं; परंतु, जहाँ तक हम समझते हैं, उनके अनुवादों से भवभूति की अलौकिक कविता का अनुमान होना तो दूर रहा, उन्हें पढ़कर पढ़ने-वालों के मन में मूल-कविता के विषय में घृणा उत्पन्न होने का भय है। कहाँ भवभूति की सरस, प्रासादिक और महा-आह्लाद-दायिनी कविता और कहाँ अनुवादकजी की नीरस, अव्यवस्थित और दोषदग्ध अनुवादमाला! परस्पर दोनों में सौरस्य विषयक कोई सादृश्य ही नहीं! कौड़ी-मोहर, आकाश-पाताल और ईख-इंद्रायण का अंतर! अपने कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिए हम, यहाँ पर, मालती—माधव से दो-एक उदाहरण देना चाहते हैं, जिनको देखकर

पढ़नेवाले स्थालीपुलाक-न्याय से मूल और अनुवाद का अंतर समझ जायँगे—

अपनी सखी लवंगिका के धोखे माधव का आलिंगन करके, अनंतर उसे पहचान, जब उससे मालती हट गई, तब माधव कहता है—

एकीकृतस्त्वचि निषिक्त इवावपीड्य
निर्भुग्नपीनकुचकुड्मलयाऽनया मे ।
कर्पूरहारहरिचन्दनचन्द्रकान्त-
निष्यन्दशैवलमृणालहिमादिवर्गः ॥

भावार्थ—अछूते पीन-पयोधर-रूपी मुकुलों को धारण करनेवाली इस मालती ने, कर्पूर-हार, हरिचंदन, चंद्रकांत-मणि शैवल ( सिवार ), मृणाल और हिम आदि शीतल पदार्थों को द्रवीभूत करके, उन्हें एकत्र निचोड़, मेरी त्वचा पर उनके रस का लेप-सा लगा दिया । इसका अनुवाद सुनिए—

जनु तुषार चंदन रस बोरी,
छिरकत अंग मृनाल निचोरी ;
उमरे उर ( ! ) मों हिए छुवावति,
जनु कपूर तन घोरि लगावति ।

मूल के कर्पूर, हरिचंदन, मृणाल और हिम को लेकर हार, चंद्रकांत और शैवल को छोड़ दिया ! मूल में एक ही क्रिया है; वह भी भूतकालिक है । अनुवाद में छिरकति, छुवावति और लगावति तीन क्रियाएँ हैं और तीनों वर्तमान-

कालिक! मानों उस समय मालतीमाधव का आलिंगन किये हुए थी। "पीन-कुच" का अर्थ उरोज नहीं किया गया; किया गया है उर! परंतु मूल में उर और उरोज दोनों में से किसी के छुलाने की साफ़-साफ़ बात नहीं। उरोज-स्पर्श का अर्थ ध्वनि से ज्ञात है। ध्वनि ही में रस है; ध्वनि ही में आनंद है। "छुवावति" कहने की आवश्यकता नहीं। भवभूति ने दूसरा चरण बहुत समझ-बूझकर लिखा है और लिखकर अपनी अखंड सहृदयता का परिचय दिया है। मूल कवि की वह सहृदयता अनुवाद में ख़ाक में मिला दी गई। मूल में जितने पदार्थों के नाम आये हैं, उन सब के रसलेप के लगाने की उत्प्रेक्षा है; परंतु अनुवाद में केवल कपूर लगाने की है। सारांश यह कि मूल में जो भाव है और उस भाव में जो रस है उसको दर्शित करने में असमर्थ होकर अनुवादकजी ने किसी प्रकार चौपाई के चार पैर-मात्र खड़े कर दिये!

एक और उदाहरण लीजिए। मन-ही-मन माधव कहता है—

पश्यामि तामित उतः पुरतश्च पश्चा-
दन्तर्बहिः परित एव विवर्त्तमानाम्।
उद्बुद्धमुग्धकनकाब्जनिभं वहन्ती-
मासक्ततिर्य्यगपवर्त्तितदृष्टिवक्त्रम्॥

भावार्थ—मुझमें अनुरक्त होने के कारण तिरछा देखनेवाली और फूले हुए मनोहर सुवर्ण-सरोरुह के समान मुख

धारण करनेवाली उस मालती ही को मैं यहाँ-वहाँ, आगे-पीछे, भीतर-बाहर, सब कहीं विद्यमान देख रहा हूँ। इसका अनुवाद एक दोहे में समाप्त कर दिया गया है। देखिए —

चितवति विकसे कमल-सी खुले कछुक दृग कोर ;
बाहर-भीतर लखि परै घूमति-सी चहुँ ओर।

भवभूति की कविता की इस विडंबना का कहीं ठिकाना है। इसीलिए हम कहते हैं कि संस्कृत न जाननेवालों को उसके नाटकों का पूरा-पूरा आनंद नहीं मिल सकता। भव-भूति की मधुमयी कविता का स्वाद जिनको लेना हो, वे यदि संस्कृत से अनभिज्ञ हों तो, उन्हें वह भाषा सीखनी चाहिए, अथवा जब तक हिंदी में और कोई अच्छा अनुवाद न निकले, तब तक विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के "भवभूति"-नामक मराठी-निबंध का हिंदी-अनुवाद पढ़कर संतोष करना चाहिए।

जनवरी १९०२

---

# लोलिंबराज

भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवियों और विद्वानों के जीवन-चरित प्रकाशित होने से अनेक लाभ हैं। ऐसे चरितों के द्वारा उन-उन कवियों और विद्वानों की अलौकिक प्रतिभा के उदाहरणों आदि से पढ़नेवालों का बहुत मनोरंजन होता है। संस्कृत-कवियों के वृत्तज्ञान से तो समधिक और भी लाभ होता है। संस्कृत भाषा हमारी मातृभाषा हिंदी की जननी है और उसके परिशीलन की ओर प्रवृत्त होना इस प्रांत ही के नहीं, इस सारे देश के निवासियों का परम धर्म है। संस्कृत के कवियों की कविता की आलोचना पढ़ने और उनके चरित का थोड़ा-बहुत ज्ञान होने से उस भाषा की ओर मनुष्यों की प्रवृत्ति होना अधिक संभव है।

लोलिंबराज से वैद्यक विद्या के जाननेवाले संस्कृतज्ञ, औरों की अपेक्षा अधिक परिचित हैं; क्योंकि लोलिंबराज का प्रसिद्ध ग्रंथ वैद्यजीवन चिकित्सा-शास्त्र का ग्रंथ है। परंतु लोलिंबराज वैद्य ही नहीं, किंतु एक प्रसिद्ध कवि और रसिक थे।

किसी प्राचीन विद्वान् के विषय में कुछ लिखने के लिए लेखनी उठाते ही पहले यह प्रश्न उठता है कि वह

कौन था, कब हुआ, कहाँ रहा और कौन-कौन ग्रंथ उसने लिखे। परंतु इन बातों का उत्तर देने में प्रायः हत-सफल होना पड़ता है। यह खेद की बात है; परंतु क्या किया जाय, वश नहीं। किसी-किसी बिरले विद्वान् को छोड़कर औरों ने अपने ग्रंथों में, अपने विषय में, कुछ लिखा ही नहीं। और, लिखा भी है तो बहुत थोड़ा। जिसने कुछ लिखा भी है उसने अपने लेख में ऐसी अत्युक्तियाँ कही हैं, और उस लेख को कवितारूपी वेष्टन से इतना लपेटा है, कि उसमें से ऐतिहासिक तत्त्व ढूँढ निकालना बड़ा कठिन काम है। लोलिंबराज भी उपर्युक्त दोष से नहीं बचे। वे अपने ग्रंथों में अपने लिए कहते हैं—

"हमने अपनी जंघा का मांस अग्नि में हवन करके पार्वती को प्रसन्न किया। पार्वती ने हमको दूध पिलाया। हम एक घड़ी में १०० श्लोक बना सकते हैं। हम कवियों के नायक हैं। हम कवियों के बादशाह हैं। गानविद्या जाननेवालों की हम सीमा हैं। राजाओं की सभा के हम भूषण हैं।"

यह सब कुछ अपनी प्रशंसा में आपने लिखा; परंतु यह न लिखा कि आप कहाँ उत्पन्न हुए; कब उत्पन्न हुए; और कौन-कौन ग्रंथ आपने बनाये। अस्तु।

लोलिंबराज के बनाये हुए तीन ग्रंथ पाये जाते हैं। वैद्य-जीवन, वैद्यावतंस और हरिविलास। ये तीनों छप गए हैं। इनके सिवा और भी चार ग्रंथों का पता चलता है, जो

लोलिंबराज के बनाये हुए हैं। इनके नाम हैं—चमत्कार-चिंतामणि, रत्नकलाचरित, वैद्यविलास और लोलिंबराजीय। पर ये हमारे देखने में नहीं आये और शायद छपे भी नहीं। उनके प्रसिद्ध तीन ग्रंथों में से पहले दो वैद्यक विषय के हैं और अंतिम में कृष्ण का चरित है। इन ग्रंथों में पहला ग्रंथ वैद्यजीवन ही अधिक प्रसिद्ध है। तीसरे, अर्थात् हरिविलास में, नंद के घर कृष्ण के पहुँचाये जाने से लेकर उद्धव-संदेश तक की कथा है। काशी से निकलनेवाली काशीविद्या-सुधा-निधि-नामक संस्कृत-पुस्तक के दूसरे भाग के सोलहवें अंक में, लोलिंबराज के विषय में, पंडित वेचनराम शर्मा इस प्रकार लिखते हैं—

दिवाकर सूरि के सुत लोलिंबराज राजा भोज के सम-कालीन, सूर्य-नामक नरेश के पुत्र, हरिहर की सभा के पंडित थे। वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे; बड़े विषयी थे; महा-मूर्ख थे। उनका बड़ा भाई जीविका के लिए देश-विदेश घूमा करता था और वे दिन-रात न-जाने कहाँ रहकर भोजन के समय घर में उपस्थित होते थे और अपने बड़े भाई की स्त्री के परोसे हुए भोजन को आकंठ खाकर फिर बाहर चले जाते थे। एक दिन उनकी दुर्वृत्ति से अत्यंत खिन्न होकर उनके भाई की स्त्री ने उनके सामने से थाली खींच ली और क्रुद्ध होकर कहा—"रे दुष्ट! घर से आज ही तू निकल जा। आज तक व्यर्थ ही मैंने तेरा पालन-पोषण किया।" ये वाक्य

लोलिंबराज को विष में बुझाये हुए बाण के समान लगे। वे तुरंत घर से बाहर हो गये और दक्षिण के सप्तशृंग नामक पर्वत पर जाकर वहाँ स्थापित की हुई अट्ठारह भुजावाली देवी को, विद्याप्राप्ति के निमित्त, प्रसन्न करने के लिए तपस्या करने लगे। लोलिंबराज की तपस्या से प्रसन्न होकर देवी ने उनसे 'तथास्तु' कहकर उनकी कामना पूरी की। तब से लोलिंबराज महाकवि, महापंडित, महान् गायक और महान् वैद्य हो गये।

बेचनरामजी ने इस वार्ता को 'जनश्रुति' कहा है। यद्यपि इस विषय का प्रामाणिक लेख हमें कहीं नहीं मिला, तथापि इसकी कुछ सूचना लोलिंबराज के ग्रंथों में मिलती है। यथा—

> रत्नं वामदृशां दृशां सुखकरं श्रीसप्तशृंगारपदं
> स्पष्टाष्टादशबाहु तद्भगवतो भर्गस्य भाग्यं भजे।
> यद्भक्तेन मया घटस्तनि! घटीमध्ये समुत्पाद्यते
> पद्यानां शतमङ्गनाधरसुधास्पर्धाविधानोद्धुरम्॥

वैद्यजीवन में लोलिंबराज अपनी स्त्री से कहते हैं—हे घटस्तनि! स्त्रियों में रत्नस्वरूपिणी, नेत्रानंददायिनी, सप्त-शृंगपर्वतनिवासिनी, अट्ठारह भुजावाली, भगवान् वामदेव की उस शक्ति का मैं भजन करता हूँ जिसका भक्त मैं, सुलोचनियों की अधर-सुधा की स्पर्द्धा करनेवाले सौ श्लोक, एक घड़ी में, रच सकता हूँ।

इससे लोलिंबराज का शाक्त होना और सप्तशृंग-स्थित अष्टादश-भुजावाली देवी की उपासना करना सिद्ध है। इससे यह भी सिद्ध है कि वे दाक्षिणात्य थे; क्योंकि सप्त-शृंग-पर्वत दक्षिण ही में है। देवी की उपासना का परिचय लोलिंबराज अपने वैद्यावतंस ग्रंथ में भी देते हैं। वहाँ आप कहते हैं—

हुतवहहुतजंघाजानुमांसप्रभावा-
दधिगतगिरिजायाः स्तन्यपीयूषपानः।
रचयति चरकादीन् वीक्ष्य वैद्यावतंसं
कविकुलसुलतानो लाललोलिम्बराजः॥

अर्थात् जंघा और गाँठ के मांस को काट-काटकर अग्नि में होम करने के प्रभाव से प्रसन्न होनेवाली पार्वती के दुग्ध-रूपी अमृत का पान प्राप्त करनेवाला, कविकुल का सुल्तान (बादशाह), लोलिंबराज, चरक आदि ग्रंथों को देखकर वैद्यावतंस की रचना करता है।

गिरिजा ने प्रसन्न होकर जिसे पुत्रवत् अपना स्तन-पान कराया, वह कवियों का बादशाह हो गया तो क्या आश्चर्य! उसे कवियों, वैद्यों, ज्योतिषियों, गायकों और सभी विषयों के विद्वानों का शाहंशाह होना चाहिए। पंडित गट्टूलाल और अंबिकादत्त व्यास इत्यादि आधुनिक विद्वान् भी शरीर के मांस का एक भी टुकड़ा हवन किये बिना ही एक घड़ी में सौ अनुष्टुप् श्लोकों की रचना कर सकते

थे। अतः लोलिंबराज की गर्वोक्ति कोई गर्वोक्ति न हुई। गिरिजा का स्तन-पान पाकर यदि गणेश और कार्त्तिकेय की बराबरी उन्होंने न की तो क्या किया! हम यह नहीं कहते कि लोलिंबराज की उक्ति मृषा है; नहीं, पार्वती उन पर अवश्य प्रसन्न हुई होंगी। हम यह कहते हैं कि पार्वती की प्रसन्नता का कोई विशेष लक्षण लोलिंबराज की कृति में नहीं मिलता। लोलिंबराज के तीनों ग्रंथ, जो उपलब्ध हुए हैं, बहुत छोटे-छोटे हैं। यद्यपि उनकी कविता सरस और प्रासादिक है, तथापि वह कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष आदि की कविता की बराबरी नहीं कर सकती, और इन कवियों को शायद गिरिजा के स्तन-पान का सौभाग्य न प्राप्त हुआ था। संभव है, लोलिंबराज ने और कोई अद्भुत ग्रंथ बनाये हों, जिनका पता अभी तक किसी को न लगा हो, अथवा देश-विप्लव के कारण वे नष्ट हो गये हों।

ऊपर जिस जनश्रुति का उल्लेख किया गया है उसमें कही गई इस बात का प्रमाण लोलिंबराज के लेख से मिल गया कि वे दाक्षिणात्य थे और सप्तशृंग-पर्वत पर उन्होंने देवी की उपासना की थी। परंतु इस बात का पता ठीक-ठीक नहीं लगता कि वे किस समय हुए। हरिविलास-काव्य के प्रति सर्ग के अंत में एक श्लोक है, जिसका पाठ सब सर्गों में प्रायः एक ही-सा है। दो सर्गों में, तीसरी पंक्ति में, कुछ अंतर है; और कहीं नहीं। वे श्लोक ये हैं—

नानागुणैरवनिमण्डलमण्डनस्य
श्रीसूर्यसूनुहरिभूमिभुजो नियोगात् ।
त्रैलोक्यकौतुककरं क्रियते स्म काव्यं
लोलिंबराजकविना कविनायकेन ॥

अर्थात्, अनेक गुणों के कारण भूमंडल के मंडन, सूर्य-नामक राजा के पुत्र, हरि-नामक राजा की आज्ञा से, कवियों के नायक लोलिंबराज कवि ने, तीनों लोकों में कुतूहल उत्पन्न करनेवाले इस काव्य की रचना की। इससे जनश्रुति की यह बात भी प्रमाणित हो गई कि सूर्य राजा के पुत्र हरि राजा की सभा को लोलिंबराजजी ने सुशोभित किया था। इस श्लोक का "त्रैलोक्यकौतुककरं" पद ध्यान में रखने योग्य है। इस काव्य में केवल पाँच सर्ग हैं। इन पाँच सर्गों की पद्य-संख्या इस प्रकार है—

| सर्ग | पद्य |
|---|---|
| १ | ३४ |
| २ | ३५ |
| ३ | ७० |
| ४ | ७७ |
| ५ | ९८ |
| जोड़ ... | ३१४ |

हम नहीं कह सकते कि इतने छोटे काव्य के लिए "त्रैलोक्यकौतुककरं" कहना किस प्रकार शोभा दे सकता

है। यदि हम यह कहें कि छोटा होकर भी उसमें कोई बहुत ही बड़ी विलक्षणता है, सो भी नहीं। कविता अवश्य ललित है, सरस है, आलंकारिक है; परंतु ये गुण ऐसे नहीं कि इनको देखकर अथवा हरिविलास की कविता का आस्वादन करके त्रिलोक को कौतुक हो और वह सहसा चौंक पड़े।

पंडित बेचनराम लोलिंबराज को भोज का समकालीन बतलाते हैं और अपने कथन के प्रमाण में यह श्लोक देते हैं—

भो लोलिंब कवे ! कुरु प्रणमनं किं स्थाणुवत्स्थीयते
कस्मै भोजनृपाल ! बालशशिने नायं शशी वर्तते।
किं तद्व्योम्नि विभाति चास्तसमये चण्डद्युतेर्वाजिनः
पादत्राणमिदं जवाद्विगलितं खे राजतं राजते॥

इसका भावार्थ है—

भोज—हे लोलिंब कवि ! ठूँठ के समान क्या खड़े हो ? क्यों नहीं प्रणाम करते ?

लोलिंबराज—भोजराज ! मैं किसको प्रणाम करूँ ?

भोज—बाल-चंद्रमा को।

लो०—यह तो चंद्रमा नहीं।

भोज—फिर सूर्यास्त के समय आकाश में यह क्या दिखाई दे रहा है ?

लो०—यह तो चाँदी की बनी हुई, सूर्य के किसी घोड़े की नाल है, जो वेग से दौड़ते समय आकाश में गिर गई है !

यह श्लोक अपह्नुति-अलंकार का एक बहुत अच्छा उदाहरण है; परंतु इतने से लोलिंबराज को भोज का समकालीन बतलाना युक्तिसंगत नहीं। हम नहीं कह सकते कि यह पद्य किस लोलिंब से संबंध रखता है; वैद्यजीवन आदि के कर्ता लोलिंबराज से, अथवा इस नाम के और किसी दूसरे कवि से। फिर इसका भी क्या प्रमाण कि किसी ने भोज के अनंतर उनके और लोलिंबराज के नाम से यह श्लोक नहीं बना डाला? वल्लाल-मिश्र के संकलित किये हुए भोजप्रबंध को जब हम देखते हैं तब वहाँ कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ, मल्लिनाथ, श्रीहर्ष आदि सभी कवियों की उक्तियाँ भोज के विषय में पाई जाती हैं। जिन कवियों का वहाँ नाम आया है उनमें परस्पर सैकड़ों वर्ष का अंतर है। इसीलिए ऐसे श्लोकों से ऐतिहासिक तत्त्व का पता लगाना कठिन है। फिर, भोज एक विद्वान् राजा था; वह कवियों को आदर की दृष्टि से देखता था। अतएव यह कहना कि उसने लोलिंबराज को ठूँठ की उपमा दी, मानों उसके सिर पर अरसिकता और असभ्यता का मुकुट रखना है।

लोलिंबराज की कविता में आधुनिकता के चिह्न पाये जाते हैं। उनमें से फ़ारसी के शब्द "सुलतान" और "पादशाह" बड़े ही जाज्वल्यमान चिह्न हैं। ऊपर एक श्लोक दिया जा चुका है जिसमें लोलिंबराज ने "सुलतान" शब्द का

प्रयोग किया है। एक श्लोक अब हम वैद्यावतंस से और उद्धृत करते हैं, जिसमें "पादशाह" शब्द आया है—

समस्तपृथ्वीपतिपूजनीयो
दिगङ्गनाश्लिष्टयशःशरीरः ।
गुणिप्रियं ग्रन्थममुं व्यतानी-
ल्लोलिम्बराजः कविपादशाहः ॥

दिशारूपिणी स्त्रियों ने जिसके यशोरूपी शरीर का आलिंगन किया है; जो समस्त राज-वर्ग का पूजनीय है; जो कवियों का पादशाह है—ऐसे लोलिंबराज ने गुणवानों के प्रीतिपात्र इस ग्रंथ की रचना की।

गुणवानों के प्रीतिपात्र इस वैद्यावतंस में केवल ५८ श्लोक हैं और उनमें वैद्यकशास्त्र के अनुसार पदार्थों के गुण-दोष का वर्णन है। इस पद्य में अपने को सब राजाओं का पूजनीय कहकर और अपने यशःशरीर को दिगंत में पहुँचाकर लोलिंब-राजजी कवियों के बादशाह बन गये हैं। ये "पादशाह" और "सुलतान" शब्द इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि उस समय मुसलमानों का प्रवेश दक्षिण में हो गया था और उनके द्वारा बहुत-से फ़ारसी-शब्द लोगों के कान तक पहुँच गये थे। दक्षिण में बीजापुर का मुसलमानी राज्य बहुत पुराना है। शिवाजी के कई सौ वर्ष पहले वहाँ मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया था। अतः यह जान पड़ता है कि मुसलमानों का प्रवेश दक्षिण में होने के अनंतर लोलिंबराज

का उदय हुआ है। अर्थात् वे कोई चार-पाँच सौ * वर्ष के इधर ही हुए हैं। भोज के समय लोलिंबराज का होना, विना किसी दृढ़ ऐतिहासिक प्रमाण के, नहीं माना जा सकता। लोलिंबराज ने जिन सूर्य और हरिहर राजाओं

---

* महाजनमंडल-नामक गुजराती पुस्तक के कर्ता ने लोलिंबराज का होना शक १५५५ अर्थात् १६३४ ईसवी के लगभग माना है। इससे हमारे कथन की पुष्टि होती है। इस पुस्तक में लिखा है कि लोलिंबराज जुन्नर के निवासी थे। यह नगर दक्षिण में पूना-ज़िले में है। परंतु ये सब बातें निराधार लिखी गई हैं। इनका कोई प्रमाण इस पुस्तक में नहीं। लोलिंबराज के तपस्या करने और अपने शरीर का मांस होमने आदि के विषय में भी इसमें प्रायः वही बातें लिखी हैं जो हमने लिखी हैं। इस पुस्तक में इतना अधिक लिखा है कि लोलिंबराज की स्त्री रत्नकला "बादशाह" की लड़की थी। बादशाह ने लोलिंबराज से पूछा कि हमारी गर्भवती रानी के लड़का होगा या लड़की। पूछने के समय बादशाह की युवा कन्या उनके पास खड़ी थी। उसे देखकर लोलिंबराज ने कहा कि मेरा उत्तर ठीक निकलने पर यदि आप मुझे यह कन्या देना स्वीकार करें तो मैं आपके प्रश्न का उत्तर बतला दूं। बादशाह ने यह बात अंगीकार कर ली। लोलिंबराज ने कहा, आपकी रानी के पुत्र होगा। पुत्र ही हुआ और वह कन्या लोलिंबराज को मिल गई। उसके साथ उन्होंने विवाह किया और उसका नाम रत्नकला रक्खा। यदि यह बात सत्य है तो लोलिंबराज भी हमारे पंडितराज जगन्नाथ राय के साथी हुए। परंतु महाजनमंडल के कर्ता ने इन बातों का कोई प्रमाण नहीं दिया। यह भी नहीं लिखा कि वह "बादशाह" कौन था और कहाँ का था।

बादशाह की युवा लड़की का एक अपरिचित के सामने, अपने पिता के पास, खड़ा रहना हमें तो संभव नहीं जान पड़ता।

का नाम अपने ग्रंथों में दिया है उनका कुछ भी पता नहीं चलता। चोल, कर्णाटक, पांड्य और आंध्रदेश के राजाओं की जो नामावली अब तक ज्ञात हुई है उसमें इन राजाओं का नाम नहीं। जान पड़ता है, ये कोई छोटे मांडलिक राजा थे। वैद्यक का प्रसिद्ध ग्रंथ वाग्भट्ट, चरक और सुश्रुत से बहुत पीछे का है। इस वाग्भट्ट का उल्लेख लोलिंबराज ने अपने वैद्यावतंस में किया है, जिससे यह सिद्ध है कि लोलिंबराज वाग्भट्ट के पीछे हुए हैं। और वाग्भट्ट का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है।

लोलिंबराज ने अपने मुँह अपनी मनमानी प्रशंसा की है। ऐसी प्रशंसा के कई उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। यहाँ पर एक उदाहरण हम और देते हैं, क्योंकि उसमें उन्होंने अपने पिता का नाम लिखा है। यह श्लोक वैद्य-जीवन के अंत में है—

आयुर्वेदवचोविचारसमये धन्वन्तरिः केवलं
सीमा गानविदां दिवाकरसुधाम्भोधित्रयामापतिः।
उत्तंसः कवितावतां मतिमतां भूभृत्सभाभूषणं
कान्तोकथाऽकृतवैद्यजीवनमिदं लोलिम्बराजः कविः॥

अर्थात्, आयुर्वेद में जो धन्वंतरि के समान है; गानविद्या के जाननेवालों की जो सीमा है; दिवाकररूपी सुधासमुद्र का जो चंद्रमा है; कवियों का जो शिरोरत्न है; और राजाओं

की सभा का जो भूषण है—ऐसे लोलिंबराज कवि ने, अपनी स्त्री के कहने से, अथवा अपनी स्त्री को संबोधन करके, इस वैद्यजीवन ग्रंथ की रचना की है। इस पद्य में और जो कुछ है सो तो हई है, एक बात इससे यह जानी गई कि लोलिंबराज की उत्पत्ति दिवाकर से हुई; अर्थात् उनके पिता का नाम दिवाकर था। यह नाम वैद्यजीवन के आरंभ में एक बार और आया है। वहाँ पर लोलिंबराज ने "दिवाकर-प्रसादेन" लिखा है, जिससे सूर्य का भी अर्थ निकलता है, क्योंकि सूर्य को भी दिवाकर कहते हैं; परंतु यहाँ, ऊपर दिये गये श्लोक से, केवल एक ही अर्थ निकलता है।

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उससे केवल इतना ही ज्ञात हुआ कि लोलिंबराज दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे; वे शक्ति के उपासक थे; सप्तश्रृंग-पर्वत पर उन्होंने देवी की आराधना की थी; वे आशुकवि थे; सुगायक थे; चतुर वैद्य थे और हरिहर-नरेश की सभा के पंडित थे।

वैद्यजीवन और हरिविलास में लोलिंबराज ने अपनी स्त्री का भी नाम दिया है। हरिविलास के पंचम सर्ग का ९९वाँ श्लोक यह है—

> सुजनैः कुजनैरपि रत्नकला-
> रमणस्य कवेः कविताश्रवणात्।
> रमणीकणितं मुरलीरणितं
> भ्रमरीभणितं तृणवद्गणितम्॥

अर्थात्, रत्नकला के स्वामी (लोलिंबराज) कवि की कविता सुनकर सज्जनों ने ही नहीं, दुर्जनों ने भी, कामिनी के कोमल आलाप को, मुरली की मनोहर तान को और भ्रमरी की मधुर गुंजार को तृणवत् समझा! क्यों न हो, कवीश्वरजी, आपके कोई-कोई पद्य, निःसंदेह बड़े ही माधुर्य-पूर्ण हैं। इस पद्य में "रत्नकलारमणस्य" लिखकर अपनी स्त्री का नाम आपने रत्नकला बतलाया। वैद्यजीवन में कई स्थलों पर स्पष्टतया "रत्नकले" कहकर लोलिंबराज ने अपनी कविरानी का संबोधन किया है। लोलिंबराज के कहने से जान पड़ता है कि उनकी स्त्री भी विदुषी थी। वैद्यजीवन में उन्होंने अपनी स्त्री से कहा है कि तू रसिका है; तू विद्वानों के द्वारा वंदन की जाने-योग्य है; तू साहित्य में निपुण है; तू कलानिधि है; तू पंडिता है; तेरी बुद्धि कुश के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण है; तू गाने में प्रवीण है; और तू सब स्त्रियों की शिरोभूषण है—इत्यादि। यह सोने में सुगंध हुई जो लोलिंबराज-ऐसे उद्भट विद्वान् और कवि को रत्नकला के समान विदुषी और रसिका स्त्री मिली; परंतु हम यह नहीं कह सकते कि भगवती अष्टभुजा से वरदान पाने के अनंतर उनको रत्नकला-रुपी रत्न हाथ लगा था, अथवा उसके पहले ही, उनकी मूर्ख-दशा ही में, उसके साथ उनका विवाह हो गया था! अस्तु।

लोलिंबराज के ग्रंथों में वैद्यावतंस बहुत ही छोटी पुस्तक है। जैसा ऊपर कहा गया है, उसमें केवल ५८ श्लोक हैं और उनमें पदार्थों के गुण-दोष का विवरण है। वैद्यावतंस के आदि और अंत में लोलिंबराज ने मंगलाचरण के जो दो श्लोक लिखे हैं वे, सानुप्रास होने के कारण, बहुत ही मनोहर हैं। उनमें से पहला श्लोक यह है—

अनुकृतमरकतवर्णा शोभितकर्णा कदम्बकुसुमेन।
नखमुखमुखरितवीणा मध्ये क्षीणा शिवा शिवं कुर्यात्॥

मरकतमणि के वर्ण का जिसने अनुकरण किया है; कदंब-पुष्प से जिसके कान शोभित हैं; नख से जो वीणा को बजा रही है—ऐसी क्षीणकटी शिवा (पार्वती) मंगल करे! दूसरा, अर्थात् वैद्यावतंस का ५७वाँ श्लोक यह है—

अधरन्यक्कृतबिंबा जितशशिबिम्बा मुखप्रभया।
गमनाविरलविलम्बा विपुलनितम्बा शिवा शिवं कुर्यात्॥

अपने अधरों से बिंबाफल का धिक्कार करनेवाली और मुख की कांति से चंद्रबिंब को जीतनेवाली, मंदगामिनी तथा विस्तृत-नितंब-शालिनी शिवा मंगल करे!

यह अनुमान होता है कि वैद्यावतंस लोलिंबराज का पहला ग्रंथ है। इसमें इन दो श्लोकों के अतिरिक्त, हमारी समझ में, एक ही और श्लोक है जिसे बहुत अच्छी कविता कह सकते हैं। करेले के गुणों का वर्णन करते हुए लोलिंबराज उसकी प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—

जाम्बूनदीयां प्रतिमां यदीयां वक्षःस्थले वामदृशो वहन्ति ।
अशेषशाकावलिमंडनत्वं तत्कारवेल्लं न लभेत कस्मात् ?

अर्थात्, जिसकी सुवर्ण की प्रतिमा को स्त्रियाँ अपने हृदय पर धारण करती हैं वह करेला क्यों न सब शाकों में श्रेष्ठ समझा जाय ? इसमें जो ध्वनि है वह सहज ही ध्यान में आ जाने-योग्य है ।

रचना की प्रणाली और कविता के गौरव-लाघव का विचार करने से जान पड़ता है कि हरिविलास को लोलिंबराज ने वैद्यावतंस के पीछे बनाया है । जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हरिविलास में केवल ५ सर्ग हैं और सब सर्गों को मिलाकर ३१४ श्लोक हैं । इस काव्य में उद्धव-संदेश तक कृष्ण की लीला का संक्षिप्त वर्णन है । इसकी कविता प्रायः सरल है । लोलिंबराज की कविता का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह सरल होकर सरस भी है । हरिविलास के कोई-कोई पद्य बहुत ही हृदयग्राही हैं । यहाँ पर हम केवल दो पद्य देकर संतोष करेंगे । वसंत-वर्णन—

वारस्त्रीव वनस्थली नवनवां शोभां बभारान्वहं
पान्थान्पीडयति स्म तस्कर इव क्रूरैः शरैर्मन्मथः ।
शृंगारः सगुणः क्षमापतिरिव प्राप प्रतिष्ठां परां
रात्रिः स्वीकुरुते स्म मुग्धललनालज्जेव कार्श्यं क्रमात् ॥

वार-वनिता के समान वन की भूमि ने प्रतिदिन नई-नई शोभा को धारण किया; चोर के समान मन्मथ पथिकों को

कठोर बाणों से पीड़ा पहुँचाने लगा; गुणवान् राजा के समान शृंगार-रस ने ऊँची प्रतिष्ठा पाई; और नवला कामिनी की लज्जा के समान रात्रि ने क्रम-क्रम से कृशता स्वीकार की, अर्थात् छोटा होना आरंभ किया। देखिए, कैसी मनोहर उपमाओं के द्वारा, कैसी सरल रीति से, लोलिंबराज ने वसंत का आगमन वर्णन किया है। इनकी उपमाएँ प्रायः बहुत अच्छी हैं। हरिविलास से शरद्वर्णन का एक श्लोक हम और उद्धृत करते हैं—

> वृद्धाङ्गनेव विजहौ सरिदुद्धतत्वं;
> वेदान्तिनामिव मतं शुचि नीरमासीत्।
> चन्द्रे प्रभा युवतिवक्त्र इवाद्भुताभू-
> द्विद्वत्कवित्वमिव केकिरुतं न रेजे॥

वृद्ध स्त्री के समान नदियों ने अपनी उद्धतता छोड़ दी; वेदांतियों के मत के समान जल स्वच्छ हो गया; कामिनी के मुखमंडल के समान चंद्रमा अधिक शोभायमान हुआ; और विद्वानों की कविता के समान मोरों की केका अरोचक हुई। इस पद्य के चौथे चरण में लोलिंबराज ने एक अमूल्य बात कही है। सच है, विद्वान् होने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। यदि उसमें कवित्व-शक्ति का स्वाभाविक बीज नहीं, तो मनुष्य चाहे जितना उद्दंड विद्वान् हो, उसकी कविता कदापि सरस और मनोहारिणी नहीं होती। रस ही कविता का प्राण है और जो यथार्थ कवि है उसकी कविता

में रस अवश्य होता है। नीरस कविता कविता ही नहीं। लोलिंबराज ने वैद्यजीवन में ठीक कहा है—

यतो न नीरसा भाति कविताकुलकामिनी।

अर्थात्, कविता-रूपिणी कुल-कामिनी नीरस होने से शोभा नहीं पाती।

लोलिंबराज के ग्रंथों में वैद्यजीवन सबसे श्रेष्ठ है। यद्यपि इसका विषय वैद्यक है, तथापि इसे काव्य ही कहना चाहिए। इसमें काव्य के प्रायः सभी लक्षण विद्यमान हैं। कोई श्लोक ऐसा नहीं जिसमें लोलिंबराज ने कोई-न-कोई मनोरंजक उक्ति न कही हो। इसमें उन्होंने अपनी अच्छी कवित्व-शक्ति दिखाई है। पार्वती के स्तन-पान करने का प्रभाव यदि कहीं कुछ दर्शित होता है तो इसी ग्रंथ में दर्शित होता है। हमने अनेक अनुभवशाली वैद्यों से सुना है कि वैद्यजीवन में कही गई ओषधियाँ भी सब प्रायः अनुभूत अतएव अव्यर्थ हैं। इसमें जो काढ़े हैं वे, सुनते हैं, विना अपना गुण दिखाये नहीं रहते। इस ग्रंथ को लोलिंबराज ने अपनी स्त्री रत्नकला को संबोधन करके बनाया है और किसी-किसी श्लोक में उससे अनोखे-अनोखे विनोद किये हैं। अधिकांश ग्रंथ शृंगारिक भावों से भरा हुआ है। इसमें कहीं उपमा, कहीं रूपक, कहीं कूट, कहीं ध्वनि, कहीं अंतर्लापिका, कहीं बहिर्लापिका, कहीं कर्ता गुप्त, कहीं क्रिया गुप्त, कहीं कुछ, कहीं कुछ है। लोलिंबराज ने इसे हृदयहारी बनाने में कोई कसर नहीं की।

इसमें सब मिलाकर पाँच विलास हैं, और प्रत्येक विलास में नीचे लिखे अनुसार विषययोजना और श्लोक-संख्या है—

| विलास | विषय | श्लोक-संख्या |
| --- | --- | --- |
| प्रथम | ज्वर-प्रतीकार | ७६ |
| द्वितीय | अतीसार और ग्रहणी-प्रतीकार | २६ |
| तृतीय | कासश्वास-प्रतीकार | ३६ |
| चतुर्थ | राजयक्ष्मादि-रोग-प्रतीकार | ४३ |
| पंचम | वाजीकरण | २१ |
| | जोड़ ... | २०५ |

अब लोलिंबराज की रसिकता के दो-चार उदाहरण सुनिए। वैद्यजीवन के आरंभ में आप कहते हैं—

येषां न चेतो ललनासु लग्नं
मग्नं न साहित्यसुधासमुद्रे।
ज्ञास्यन्ति ते किं मम हा प्रयासा-
नन्धा यथा वारवधूविलासान्॥

जिन्होंने साहित्यरूपी सुधा-समुद्र में डुबकी नहीं लगाई और जिनका मन ललनाओं में लीन नहीं, वे इस ग्रंथ की रचना करने में होनेवाले मेरे परिश्रम को उसी प्रकार न जान सकेंगे जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य वार-वनिताओं के हाव-भावों को नहीं जान सकते। वैद्यजीवन बनाने में क्या आपको सचमुच ही बड़ा परिश्रम हुआ? एक घड़ी में सौ

श्लोक बनानेवाले को २०५ श्लोक लिखने में कितना श्रम हो सकता है ? यह बात लोलिंबराज की बहुत यथार्थ है कि जिसे साहित्य-शास्त्र का ज्ञान नहीं वह कवि के कर्तव्य को अच्छी तरह नहीं जान सकता। श्रीकंठचरित में लिखा है—

विना न साहित्यविदा परत्र
गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम् ।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव
विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः ॥

अर्थात्, साहित्य-शास्त्र के ज्ञाता विना, कवियों के गुण अच्छी तरह नहीं विस्तार पाते। तेल का बूँद पानी ही पर फैलता है।

लोलिंबराज की उपमाएँ बहुत अच्छी हैं। यद्यपि वे अद्भुत नहीं हैं, तथापि ऐसी चुटीली हैं कि उनके कारण उनकी कही हुई उक्ति हृदय में अंकित-सी हो जाती है। उनकी सारी उपमाएँ प्रायः शृंगार-रसात्मक हैं; तथापि उद्वेगजनक नहीं। दो-एक सुनिए—

तृड्दाहमोहाः प्रशमं प्रयान्ति
निम्बप्रवालोत्थितफेनलेपात् ।
यथा नराणां धनिनां धनानि
समागमाद् वारविलासिनीनाम् ॥

नीम के कोमल पत्तों के फेन का लेप करने से तृषा, दाह और मोह इस प्रकार नाश हो जाते हैं जिस प्रकार

वार-वनिताओं के समागम से धनी मनुष्यों का धन नाश हो जाता है।

चातुर्थिको नश्यति रामठस्य
घृतेन जीर्णेन युतस्य नस्यात्।
लीलावतीनां नवयौवनानां
मुखावलोकादिव साधुभावः॥

पुराने घी के साथ हींग का नास लेने से चातुर्थिक ज्वर उसी तरह चला जाता है जिस तरह नवयौवना कामिनियों के मुखावलोकन से मनुष्यों का साधुभाव न-मालूम कहाँ चला जाता है।

यद्यपि प्राचीन कवियों की कविता को उदाहरणवत् उद्धृत करने में कोई हानि नहीं, तथापि लोलिंबराज की विशेष रसिकता का परिचय हम नहीं देना चाहते। अतएव इस प्रकार का हम एक ही और उदाहरण देते हैं। लोलिंबराज को दो बातें बहुत ही विस्मयकारिणी जान पड़ती हैं। इस विषय में वे कहते हैं—

मम द्वयं विस्मयमातनोति
तिक्ताकषायो मुखतिक्तताघ्नः।
निपीडितोरोजसरोजकोशा
योषा प्रमोदं प्रचुरं प्रयाति॥

अर्थात्, दो बातों का विचार करके मुझे बड़ा विस्मय होता है। एक तो यह कि महा कड़ुई कुटकी का काढ़ा

पीने से मुँह कड़ुवा न होकर उलटा उसका कड़ुवापन जाता रहता है; और दूसरी बात यह कि, * * रूपी कमल की कलिकाओं का पीड़न करने से कामिनी को पीड़ा न होकर उलटा उसे आनंद होता है !

एक द्व्यर्थिक श्लोक सुनिए—

अयि प्रिये ! प्रीतिभृतां मुरारौ
किं बालकश्रीघनधान्यविश्वैः ।
यस्याप्यतीसाररुजो न तस्य
किं बालकश्रीघनधान्यविश्वैः ॥

हे प्रिये ! जिनको कृष्ण से प्रेम है उनको बालक, श्री, घन-धान्य और विश्व से क्या प्रयोजन ? अर्थात् कुछ भी नहीं। और जिनके अतीसार का रोग नहीं उनको भी इन वस्तुओं से क्या प्रयोजन ? यहाँ पर "बालकश्रीघनधान्य-विश्वैः" यह पद द्व्यर्थिक है । कृष्ण के पक्ष में उसका यह अर्थ है—

बालक—लड़के-बाले

श्री—लक्ष्मी

घनधान्य—धान्य-बाहुल्य

विश्व—संसार

अर्थात्, विरक्तों को इनसे कोई प्रयोजन नहीं। अतीसार के पक्ष में इन्हीं शब्दों का दूसरा अर्थ होता है। यथा—

बालक—सुगंधबाला

श्री—बेल

घन—नागरमोथा

धान्य—धनियाँ

विश्व—सोंठ

अर्थात्, जिसको अतीसार नहीं है उसे इन ओषधियों के होने से कोई लाभ नहीं। इनके काढ़े से अतीसार जाता रहता है।

एक छोटा-सा कूट श्लोक सुनिए—

रावणस्य सुतो हन्यात् मुखवारिजधारितः।
श्वसनं कसनं चापि तमिवानिलनन्दनः॥

अर्थात्, मुखकमल में रखने से रावण का लड़का, श्वास और खाँसी दोनों का वैसे ही नाश करता है जैसे उसका (रावण के लड़के का) नाश पवनसुत ने किया था। हनूमान् के हाथ से मारे जानेवाले रावण के लड़के का नाम अक्ष था। अक्ष बहेड़े को कहते हैं। अर्थात् बहेड़े को मुँह में रखने से श्वास और खाँसी जाती रहती है।

लोलिंबराज की एक बहिर्लापिका सुनाकर हम इस व्यापार से विरत होंगे—

भिन्दन्ति के कुञ्जरकर्णपालिं
किमव्ययं वक्ति रते नवोढा।
सम्बोधनं नुः किमु रक्तपित्तं
निहन्ति वामोरु! वद त्वमेव॥

हे वामोरु ( अच्छी जंघावाली ) ! तू मुझे यह बतला कि हाथियों के मस्तक का विदारण कौन करता है ? उत्तर— 'सिंहाः' । यह भी बतला कि नवला कामिनी रतोत्सव के समय किस अव्यय का उच्चारण बार-बार करती है ? उत्तर— 'न' । यह भी तू बतला कि 'नृ' शब्द का संबोधन क्या है ? उत्तर—'नः' । और यह भी बतला कि रक्त-पित्त का नाश कौन औषधि करती है ? उत्तर—'सिंहाननः' । अर्थात् "सिंहाः, न, नः" इन तीनों शब्दों को एकत्र करने से 'न' आगे होने के कारण 'सिंहाः' के विसर्गों का लोप हो गया और 'सिंहाननः' शब्द सिद्ध हुआ । सिंहानन नाम अड़ूसे का है । अड़ूसे के काढ़े से रक्त-पित्त जाता रहता है ।

वैद्यजीवन की कविता बहुत मनोहारिणी है । परंतु अब अधिक उदाहरण उद्धृत करने की ज़रूरत नहीं । लोलिंबराज की जितनी कविता उपलब्ध हुई है उससे यह प्रमाणित होता है कि वे अच्छे कवि थे । उनकी कविता में क्लिष्टता-दोष नहीं । यह उनके स्वाभाविक कवि होने का प्रमाण है ।

अप्रैल, १९१२

---

# फ़ारसी-कवि हाफ़िज़

हाफ़िज़ फ़ारसी का बहुत बड़ा कवि हो गया है। उसे फ़ारसी के कवियों का शाहंशाह कहना चाहिए। गुलिस्ताँ और बोस्ताँ के लिखनेवाले शेख़सादी से भी, कविता में, उसकी बराबरी नहीं की जा सकती। कविता से जहाँ तक संबंध है हाफ़िज़ को फ़ारसी का कालिदास कहना चाहिए। हाफ़िज़ में कवित्व-शक्ति अपूर्व थी। वह स्वाभाविक कवि था। उसकी उक्तियाँ ऐसी भावगर्भित और ऐसी नैसर्गिक हैं कि पढ़ते ही हृदय पर विलक्षण प्रभाव उत्पन्न करती हैं। प्रेम, पूज्यभाव और आतंक—सभी—यथास्थान मन में आविर्भूत हुए विना नहीं रहते। ऐसे गंभीर भाव, ऐसी हृदयद्रावक उक्तियाँ, सरल होकर भी ऐसी परिमार्जित भाषा, फ़ारसी में, हाफ़िज़ के "दीवान" में ही मिल सकती है; अन्यत्र बहुत कम। परंतु ऐसे महाकवि के जीवन का बहुत ही कम वृत्तांत जाना गया है।

हाफ़िज़ का नाम मुहम्मद शम्सउद्दीन है। हाफ़िज़ उसका तख़ल्लुस था। अपने दीवान में उसने इस तख़ल्लुस का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है। इसीलिए वह अपने मुख्य नाम से प्रसिद्ध नहीं; तख़ल्लुस से ही प्रसिद्ध है।

हाफ़िज़ के माता-पिता अच्छी दशा में थे; परंतु हाफ़िज़ ने दरिद्रावस्था ही में अपनी उम्र बिताई। यह बात उसकी कविता से सूचित होती है। वह फ़ारस के शीराज़ नगर में, ईसा की चौदहवीं सदी के आरंभ में, उत्पन्न हुआ और वहीं बुड्ढा होकर मरा। यह ठीक-ठीक नहीं मालूम कि किस सन्, किस महीने, और किस तारीख़ को उसका जन्म हुआ; परंतु उसके मरने का समय निश्चय-पूर्वक ज्ञात है। शीराज़ में उसकी जो क़ब्र है उस पर ७९१ हिज़री, अर्थात् १३७२ ईसवी, खुदा हुआ है। उस पर एक शायर ने उसके मरने की तारीख़ भी यह लिखी है—

چراغ اهل معني خواجه حافظ
که شمع بود از نور تجلي
چو در خاک مصلي يافت منزل
بجو تاريخش از خاک مصلي

चिराग़े अहले मानी ख़्वाजः हाफ़िज़
कि शमए बूद अज़ नूरे तजल्ला
चु दर ख़ाके मुसल्ला याफ़्त मंज़िल
बिजो तारीख़श अज़ ख़ाके मुसल्ला

अर्थात्

अर्थवेत्ताओं के दीपक ख़्वाजा हाफ़िज़ ने, जो कि ख़ुदा के तेज की मशआल था, ख़ाके मुसल्ला ( ईदगाह या नमाज़ पढ़ने की जगह ) में स्थिति पाई। उसकी तारीख़

ख़ाके मुसल्ला में ढूँढो ( ख़ाके मुसल्ला के अंक, अबजद के क़ायदे से, ७९१ होते हैं ) इससे स्पष्ट है कि हाफ़िज़ को मरे कोई ५३० वर्ष हुए। परंतु उसे मरा क्यों कहना चाहिए। जब तक फ़ारसी-भाषा का अस्तित्व है और जब तक हाफ़िज़ का अलौकिक कवित्व उसके दीवान में विद्यमान है तब तक वह मृत नहीं; वह जीवित है। जिसका यशःशरीर बना है, उसके पार्थिव शरीर के नाश हो जाने से कोई क्षति नहीं।

हाफ़िज़ को अपनी जन्म-भूमि शीराज़ से बड़ा स्नेह था। उसने उसकी बहुत प्रशंसा की है। उसे एकांतवास अधिक पसंद था। साहित्य-प्रेम उसमें विलक्षण था। एकांत में पुस्तकावलोकन और कविता-निर्माण में ही वह अपना समय बहुत करके व्यतीत करता था। शीराज़, यज़्द, किरमान और इस्फ़हान के अधिकारी—शाहशुजा और शाहमंसूर का वह विशेष कृपापात्र था। १३९३ ईसवी में तैमूर ने शीराज़ पर चढ़ाई करके उसे अपने अधिकार में कर लिया। इस लड़ाई में हाफ़िज़ के पृष्ठ-पोषक पूर्वोक्त शाहद्वय की हार हुई। उस समय, सुनते हैं, हाफ़िज़ शीराज़ ही में था। हाफ़िज़ ने, एक पद्य में, अपने बहुत प्यारे शीराज़ी तुर्क के कपोल के ऊपर के तिल के लिए समरक़ंद और बुख़ारा नाम के दो प्रसिद्ध शहर दे डालने की उक्ति कही थी। वह पद्य ऐसा है—

اگر آن ترک شیرازی بدست ارد دل مارا
بخال هندوش بخشم سمرقند و بخارا را

अक्षरांतर

अगर आँ तुर्क शीराज़ी बदस्त आरद दिले मारा।
बखाले हिंदवश बख़्शम् समरक़ंदो बुखारा रा॥

ये दोनों शहर तैमूर के थे। तैमूर ने हाफ़िज़ का यह पद्य पढ़ा था। अतएव उसने हाफ़िज़ को अपने सम्मुख लाये जाने का हुक्म दिया। हाफ़िज़ लाया गया। उसे देखकर तैमूर ने पूछा—"क्या तू वही शख़्स है जिसने मेरे दो मशहूर शहर एक तुर्क के तिल पर दे डालने का साहस किया है?" हाफ़िज़ ने इस प्रश्न का उत्तर बड़ी ही नम्रता से दिया। उसने कहा—"हाँ, जहाँपनाह! ऐसी ही उदारताओं ने तो मुझे इस दरिद्रावस्था को पहुँचा दिया कि इस समय मैं आपकी दया का भिखारी होने आया हूँ"। यह उत्तर सुनकर हाफ़िज़ की प्रत्युत्पन्न-मति पर तैमूर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे पारितोषिक देकर सम्मान-पूर्वक उसने विदा किया। यह बात कहाँ तक सच है, नहीं कह सकते; क्योंकि तैमूर के द्वारा शीराज़ लिये जाने के पहले ही हाफ़िज़ की मृत्यु हो चुकी थी।

थोड़ी ही उम्र से हाफ़िज़ ने कविता और दर्शन-शास्त्र में अभ्यास आरंभ किया और शीघ्र ही इन शास्त्रों में वह पार-

दर्शी हो गया। शेख़ मुहम्मद अत्तार नाम के प्रसिद्ध फ़क़ीर से उसने दर्शन-शास्त्र सीखा। कुछ दिनों में हाफ़िज़ भी इन शेख़ साहब का अनुयायी हो गया। उस पर शाह के वज़ीर हाजी क़यामुद्दीन की बड़ी कृपा थी। उसने विशेष करके हाफ़िज़ ही के लिए एक कॉलेज खोला। उस कॉलेज में हाफ़िज़ क़ुरान पढ़ाने पर मुक़र्रर हुआ। परंतु हाफ़िज़ का स्वभाव बहुत ही उच्छृंखल था। वह मद्यप भी था। उसे बाहरी दिखाव बिलकुल पसंद न था। वह कहता था कि अमीर और ग़रीब दोनों का ईश्वर एक ही है। उसके लिए मसजिद, मंदिर और गिरजाघर तुल्य थे। इसलिए उसके साथी अध्यापकों तथा और-और विद्वानों ने भी हाफ़िज़ के आचरण पर कटाक्ष करना आरंभ किया। हाफ़िज़ से भी मौन नहीं रहा गया। उसने भी अपनी कविता में उन लोगों की ख़ूब दिल्लगी उड़ाई और उनकी अंध-धर्मभीरुता, उनके दांभिक आचरण और उनके मिथ्या विश्वासों पर, मौक़ा हाथ आते ही, बड़े ही मर्म-भेदी व्यंग्य कहे। हाफ़िज़ को लोग कुछ-कुछ नास्तिक समझते थे। और-और बातों के सिवा इसका एक कारण यह भी था कि हाफ़िज़ ने मंसूर नाम के पहुँचे हुए फ़क़ीर की प्रशंसा में कविता की थी। यह फ़क़ीर अपने को "अनल-हक़" ( अहं ब्रह्मास्मि ) कहता था। बड़ी दुर्दशा करके उसे फाँसी दी गई थी; परंतु अंत तक वह "अनल-हक़" ही कहता रहा।

हाफ़िज़ की कीर्ति बहुत शीघ्र देश-देशांतरों में फैल गई। उसकी मनोमोहिनी कविता का रस-पान करके लोग मत्त होने लगे। अनेक शक्तिशाली बादशाहों और अमीरों ने उसे अच्छे-अच्छे पारितोषिक भेजे। किसी-किसी ने हाफ़िज़ को बड़े प्रेम से अपने यहाँ आने का आवाहन किया। सुनते हैं, दक्षिण में, बीजापुर के बादशाह महमूदशाह बहमनी ने भी हाफ़िज़ को अपने यहाँ, इस देश में, पधारने के लिए आमंत्रण के साथ जहाज़ भेजा था। इस आमंत्रण को हाफ़िज़ ने स्वीकार भी कर लिया था। यहाँ तक कि हिंदोस्तान को आने के लिए वह शीराज़ से चल भी दिया; परंतु सामुद्रिक सफ़र में उसे कुछ कष्ट हुआ। इसलिए कुछ दूर आकर वह शीराज़ को लौट गया। उस समय बंगाले के मुसलमान सूबेदार ने भी, सुनते हैं, उसे बुलाया था; परंतु उसने आदर-पूर्वक इस निमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। यज़्द के अधिकारी यहिया इब्न मुज़फ़्फ़र के बहुत कहने-सुनने पर, एक बार हाफ़िज़ उसके यहाँ गया। पर वहाँ जाने से उसे प्रसन्नता न हुई। थोड़े ही दिनों में वह शीराज़ लौट आया और फिर कभी उसने उस शहर को नहीं छोड़ा। जब तक वह यज़्द में था, शीराज़ को लौटने के लिए वह बहुत ही उत्सुक था।

हाफ़िज़ के गृहस्थाश्रम-जीवन के विषय में बहुत ही कम बातें ज्ञात हैं। उसने एक कविता में अपनी स्त्री की ओर

दूसरी में अपने अविवाहित पुत्र की मृत्यु का कारुणिक उल्लेख किया है। यह भी सुना जाता है कि शाख़े-नबात-( इक्षुलता या मिश्री की क़लम )-नामक एक सु-स्वरूपा रमणी पर हाफ़िज़ अनुरक्त था। उसकी बहुत-सी शृंगारिक कविता उसी को लक्ष्य करके लिखी गई हैं।

हाफ़िज़ के दीवान को कहीं भी मनमानी जगह पर खोलकर लोग शुभाशुभ प्रश्न देखते हैं और वहाँ पर निकले हुए पद्य या पूरी ग़ज़ल के भावार्थ से प्रश्न का अर्थ निकालते हैं। ऐसा करने से पहले लोग एक मिसरा पढ़ते हैं, जिसमें हाफ़िज़ को यथार्थ बात बतलाने के लिए शाख़े-नबात की क़सम दिलाई गई है। वह मिसरा यह है—

قسم شاخ نبات است ترا اے حافظ
فال ما راست بگو تا شودم باتو یقین

अक्षरांतर

क़समे शाख़े नबातस्त तुरा ऐ हाफ़िज़।
फ़ाले मा रास्त बिगो ता शवदम बा तो यक़ीं॥

इससे भी हाफ़िज़ और शाख़े-नबात का संबंध सूचित होता है। सुनते हैं, नादिरशाह को दीवाने-हाफ़िज़ पर इतना विश्वास था कि विना उसके द्वारा शुभाशुभ का विचार किये वह कोई चढ़ाई या लड़ाई न करता था।

हाफ़िज़ शिया-संप्रदाय का मुसलमान था। वह हदीस अर्थात् मुहम्मद साहब की निज की कही हुई बातों पर विश्वास न रखता था। उसने अपनी कविता में ऐसी-ऐसी बातें भी कही हैं जिनको धार्मिक मुसलमान अनुचित और धर्म-विरुद्ध समझते हैं। इन कारणों से जब हाफ़िज़ की मृत्यु हुई तब शीराज़ के धर्माचार्यों में इस बात का विवाद उठा कि हाफ़िज़ का शव मुसलमानी नियमों के अनुसार उचित स्थान में समाधिस्थ किया जाना चाहिए अथवा नहीं। इसका फ़ैसला हाफ़िज़ ही के दीवान पर रक्खा गया। यह निश्चय हुआ कि इस पुस्तक का कोई पन्ना सहसा खोला जाय और वहाँ जो कुछ निकले उसी के अनुसार काम किया जाय। निदान उन लोगों ने ऐसा ही किया। हाफ़िज़ के दीवान का जो भाग खोला गया उसमें लिखा था—"हाफ़िज़ के जनाज़े (रथी) से अपना पैर पीछे मत हटाओ; क्योंकि, यद्यपि, वह पापों में डूबा हुआ है, तथापि वह बिहिश्त में अवश्य दाखिल कर लिया जायगा।" अतएव वह मुसलमानों के नियमानुसार यथाविधि समाधिस्थ किया गया। हाफ़िज़ के समाधि-स्तंभ पर उसी के कहे हुए दो पद्य खुदे हैं और वहीं उसका दीवान रक्खा रहता है। उसकी समाधि के दर्शन के लिए लोग दूर-दूर से आते हैं और समाधि पर वे जो सामग्री चढ़ाते हैं उससे वहाँ रहनेवाले दरवेशों (फ़क़ीरों) का अच्छी तरह जीवन-निर्वाह होता है।

ये दरवेश दीवाने-हाफ़िज़ से अच्छी-अच्छी उक्तियाँ सुनाकर यात्रियों को प्रसन्न करते हैं। जिस जगह हाफ़िज़ की समाधि है उसका नाम ख़ाके-मुसल्ला है।

हाफ़िज़ ने यद्यपि और कई छोटी-छोटी किताबें लिखी हैं, परंतु उसका दीवान सबसे अधिक प्रसिद्ध है। वह हाफ़िज़ की कही हुई उत्तमोत्तम ग़ज़लों का संग्रह है। प्रत्येक ग़ज़ल में पाँच से लेकर सोलह तक बैत हैं। प्रायः प्रत्येक अंतिम बैत में हाफ़िज़ ने अपना नाम दिया है। हाफ़िज़ की ग़ज़लें वर्ण-क्रमानुसार रक्खी गई हैं। इससे यह नहीं जाना जाता कि कौन ग़ज़ल पहले और कौन पीछे बनी है।

हाफ़िज़ की कविता के विषय में बहुत मत-भेद है। कोई-कोई कहते हैं कि उसमें केवल पार्थिव प्रेम और लौकिक बातों का वर्णन है। परंतु कोई-कोई इसके प्रतिकूल मत देते हैं। वे कहते हैं कि हाफ़िज़ ने जो कुछ कहा है सब अलौकिक और अपार्थिव विषय में कहा है—अर्थात् उसकी कविता केवल हक़ानी है; वह केवल ईश्वर-विषयक है। यह मत सूफ़ी-संप्रदाय के मुसलमानों का है। वे हाफ़िज़ की कविता को ईश्वर पर घटाते हैं और कहते हैं कि उसका यथार्थ भाव समझने की कुंजी केवल उन्हीं के पास है। परंतु जिन्होंने हाफ़िज़ की कविता का बहुत कुछ विचार किया है और चिरकाल तक उसके परिशीलन में निमग्न रहे हैं उनका कथन है कि उसमें पार्थिव विषय

भी हैं और अपार्थिव भी। उसका सृष्टि-सौंदर्य-वर्णन, उसकी मनोमोहिनी शृंगारिक उक्तियाँ और मद्य-प्राशन-विषयक उसके विलक्षण कथन आदि का विचार करके विद्वानों का मत है कि इन सब बातों को हाफ़िज़ ने ईश्वर को लक्ष्य करके नहीं कहा। इन बातों का साधुता अर्थात् फ़क़ीरी से बहुत कम संबंध है।

हाफ़िज़ की कविता स्वाभाविक है। उसकी कल्पना-शक्ति बहुत उद्दंड है। उसकी किसी-किसी कल्पना को सुनकर हृदय में आतंक-सा उत्पन्न हो जाता है। उसने कोई-कोई बात बहुत ही अद्भुत कही है। उसके दीवान की कई आवृत्तियाँ बर्लिन, लंदन और पेरिस में छपी हैं। उसकी कविता के अनुवाद भी विदेशी भाषाओं में हो गये हैं। सर विलियम जोंस और अध्यापक कावेल, यमरसन और डि हर बेलाट आदि ने उस पर बहुत कुछ लिखा है। बंबई के श्रीयुत के० एम्० जौहरी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ने भी दीवाने-हाफ़िज़ का अनुवाद अँगरेज़ी में किया है। फ़ारिस में हाफ़िज़ की कविता का इतना अधिक प्रचार है कि वहाँ के पढ़े-लिखे सामाजिक मनुष्यों को वह कंठ रहती है। ग़रीब और अमीर सभी उसकी कविता का आदर करते हैं। फ़ारिस के रेगिस्तान में दूर-दूर तक सफ़र करनेवाले, खच्चरों और ऊँटों के क़ाफ़िलेवाले, हाफ़िज़ की ग़ज़लों को बड़े प्रेम से गाते हैं और ऐसा करके मार्ग का श्रम

परिहार करते हैं। हाफ़िज़ फ़ारिस का सबसे अधिक प्यारा और प्रसिद्ध कवि है।

फ़ारिस के विद्वान् समालोचकों का मत है कि हाफ़िज़ की कविता निकम्मी—दूषित—ठहराई जा सकती है; परंतु उसकी तुलना और किसी कविता से नहीं की जा सकती। उसकी कविता अनन्वयालंकार का सच्चा उदाहरण है। उसकी समता उसी से हो सकती है और किसी से नहीं। वह वही है। हाफ़िज़ ने जो कुछ कहा है, नया ही कहा है। उसकी उक्तियों में उच्छिष्टता नहीं। उसमें दोष हो सकते हैं; परंतु वैसे दोष उसी में पाये जा सकेंगे, और कहीं नहीं। उसकी कविता में जो रमणीयता है वह उसी में है। उसे अन्यत्र ढूँढ़ना व्यर्थ है।

हाफ़िज़ के बराबर प्रतिभाशाली कवि होना दुर्लभ है। उसके समान ललित और मधुर-भाषी दूसरा कवि, संस्कृत को छोड़कर, और भाषाओं में नहीं पाया जाता। हाफ़िज़ की कविता का आनंद, उसके दीवान को फ़ारसी ही में पढ़ने से, अच्छी तरह आ सकता है। अनुवाद में वह रस नहीं आता। हाफ़िज़ को, पंडितराज जगन्नाथराय की तरह, अपनी कविता का गर्व भी था। उसने कई जगह, इस विषय में, गर्वोक्तियाँ कही हैं—ये गर्वोक्तियाँ चाहे सचमुच ही अभिमान-जन्य हों और चाहे यों ही स्वाभाविक रीति पर उसके मुँह से निकल गई हों। पर उसके मुँह से उसकी

गर्वोक्तियाँ भी अच्छी लगती हैं। वे उसी प्रकार निकली हैं जैसे फूलों से मकरंद टपकता है अथवा इक्षु से रस निकलता है।

यहाँ पर, हम, हाफ़िज़ की रसवती कविता के दो-चार नमूने देना चाहते हैं और साथ ही मुंशी नानकचंदजी का किया हुआ पद्यात्मक अनुवाद भी हम प्रकाशित करते हैं—

(१)

صبا اگر گذرے افتدت بکشور دوست
بیار نفحۂ از گیسوے معنبرے دوست

अक्षरांतर

सबा अगर गुज़रे उफ़्तदत् बकिश्वरे दोस्त।
बियार नफ़हए अज़ गेसुए मुअंबरे दोस्त॥

अनुवाद

पवन मीत जो कभी जाय तू मेरे प्राणप्यारे के देश।
उसके केश सुगंधित से कुछ ले आना सुगंध का लेश॥

(२)

بجان او کہ بشکرانہ جان برافشانم
اگر بسوے من آری پیام از برے دوست

अक्षरांतर

बजाने ऊ कि बशुक्रानः जाँ बरफ़्शानम्।
अगर बसूये मन आरी पयामे अज़बरे दोस्त॥

अनुवाद

प्यारे की है शपथ करूँ मैं तुझ पर नौछावर निज प्राण।
एक सँदेसा प्राणनाथ का जो तू मुझको देवै आन॥

( ३ )

اگر چنانچه دران حضرتت نباشد بار
برائے دیدہ بیاور غبارے از در دوست

अक्षरांतर

अगर चुनाँचः दराँ हज़रतत न बाशद बार।
बराय दीदः बियावर ग़ुबारे अज़ दरे दोस्त॥

अनुवाद

और न जो तू जाने पावै उसके सम्मुख किसी प्रकार।
नैनों के अंजन को रजकण लादे उसका द्वार बुहार॥

( ४ )

دل شوق لبت مدام دارد
یارب زلبت چه کام دارد

अक्षरांतर

दिल शौक़े लबत मुदाम दारद।
यारब ज़ लबत चि काम दारद॥

अनुवाद

मन में तेरे अधर की रहत निरंतर चाह।
कौन हेत जाने हरी कछु न याकी थाह॥

( ५ )

جان شربت مهرو بادهٔ شوق
در ساغر دل مدام دارد

अक्षरांतर

जाँ शरबते महरो बादए शौक़।
दर साग़रे दिल मुदाम दारद॥

अनुवाद

मधुरासव-अनुराग अरु प्रेम-वारुणी-वार।
अंतर घट में भर रहे निज मन-मुकुर निहार॥

( ६ )

شوریده زلف یار دائم
در دام بلا مقام دارد

अक्षरांतर

शोरीदए ज़ुल्फ़े यार दायम्।
दर दामे बला मुक़ाम दारद॥

अनुवाद

घुँघरारी लट की लगी जाके मन कों लाग।
नाग-पाश में वह रहै बँध्यो सकल सुख त्याग॥

( ७ )

بایار کجا نشیند آنکو
اندیشه خاص وعام دارد

अक्षरांतर

बायार कुजा नशीनद आँ को।

अंदेशए खासो आम दारद॥

अनुवाद

प्रीतम सँग कैसे करै सो निःशंक विहार।

लोकलाज कुलकानि सों जो भयभीत अपार॥

( ८ )

خرم دل آن کسے کہ صحبت

با یار علی الدوام دارد

अक्षरांतर

खुर्रम दिले आँ कसे कि सुहबत।

बायार अलद्दवाम दारद॥

अनुवाद

सुखी होय या जगत में कहत सयाने लोग।

जेहि सँग प्रीतम को रहत विन अंतर संयोग॥

( ९ )

حافظ چو دمے خوش است مجلس

اسباب طرب تمام دارد

अक्षरांतर

हाफ़िज़ चु दमे खुशस्त मजलिस।

अस्बाबे तरब तमाम दारद॥

अनुवाद

हाफ़िज़ सो क्षण धन्य है कटै जो प्रीतम संग ।
सब सुख साज सजे रहैं बाढ़ैं हिये उमंग ॥

भावुक मुसलमानों का मत है कि इन सब पद्यों में प्यारे, प्राणप्यारे, प्रियतम आदि शब्द और संबोधन ईश्वर के लिए हैं ।

मार्च १९०४ ।

---

## बौद्धाचार्य शीलभद्र

एक समय था जब भारतवर्ष के बड़े-बड़े विद्वान् चीन, लंका और तिब्बत आदि देशों में जाकर विद्या और धर्म की शिक्षा देते थे। एक यह समय है कि हमी को अन्यान्य देशों में जाकर विद्योपार्जन करना पड़ता है। विदेशी धर्माचार्य अब हमें यह उपदेश देने आते हैं कि तुम्हारा धर्म निःसार है; हमारे धर्म को स्वीकार करने ही से तुम्हें मुक्ति मिलेगी। खैर, इसका कुछ रंज नहीं; उत्थान और पतन सबके पीछे लगा हुआ है। रंज इस बात का है कि हम अपने पूर्वजों की कीर्ति को, पांडित्य को, पराक्रम को बिलकुल ही भूल गये हैं। उसका स्मरण तक हमें नहीं। हम यह भी नहीं जानते कि चीन-ऐसे सभ्य देश के पंडित हमारे पूर्वजों के चरणों पर मस्तक रखने और उनसे विद्या-धर्म सीखने आते थे। इन बातों के जानने के कुछ तो साधन कम रह गये हैं, कुछ हम लोगों में उनके जानने की प्रवृत्ति ही कम है। इसी से शीलभद्र-ऐसे प्रख्यात पंडित का नाम तक लोग भूल गये थे। चीन से जो प्रवासी इस देश में आये थे उनके ग्रंथों से इस अद्वितीय विद्वान् के विषय में बहुत-सी बातें जानी गई हैं। उनके तथा दो-एक बौद्ध ग्रंथों के आधार पर

"डान"-नामक अँगरेज़ी मासिक पुस्तक में शीलभद्र पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसे पढ़ने से शीलभद्र का संक्षिप्त वृत्तांत मालूम हो सकता है।

शीलभद्र छठी शताब्दी में थे। नालंद-विश्वविद्यालय के वे अध्यक्ष थे। भारतवर्ष-भर में उस समय कोई भी शास्त्रज्ञ विद्वान् उनका समकक्ष न था। ये वही शीलभद्र हैं जिनके पैरों पर प्रसिद्ध चीनी प्रवासी ह्वेनसांग ने अपना मस्तक रक्खा था। ये पूर्वी बंगाल के रहनेवाले थे। ढाका-ज़िले के रामपाल-गाँव में इनका जन्म हुआ था। यह गाँव उस समय समतट-राज्य की राजधानी था। पालवंशी राजाओं के पहले वहाँ ब्राह्मण-वंशी राजाओं का राज्य था। शीलभद्र का जन्म राजवंश में हुआ था। यदि राज्याधिकार की इच्छा से वे अपना देश न छोड़ते तो, बहुत संभव था, उन्हें राजासन प्राप्त हो जाता। परंतु राज्यप्राप्ति की अपेक्षा विद्याप्राप्ति ही को उन्होंने श्रेष्ठ समझा। इसका फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म के विस्तृत साम्राज्य के वे सम्राट् हुए। उस समय नालंद ही बौद्धों का सबसे श्रेष्ठ विद्यालय था। उसमें १५१० अध्यापक थे और कोई १० हज़ार विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। इन सब अध्यापकों के अध्यक्ष शीलभद्र थे।

जिस पद पर शीलभद्र अधिष्ठित थे उस पर उनके पहले कितने ही नामी-नामी पंडित और महात्मा अधिष्ठित रह

चुके थे। बौद्धों की माध्यमिक शाखा के आचार्य नागार्जुन इसी विश्वविद्यालय के आचार्य थे। यहीं उन्होंने बौद्ध धर्म के अनुयायियों को इस नई शाखा के सिद्धांतों का उपदेश किया था। महापंडित नागसेन ने यहीं से अपने उपदेशों के द्वारा ग्रीक-नरेश मीनोस्ट्रेसी की शंकाओं का समाधान करके उसके हृदयांधकार का नाश किया था। इसी विश्वविद्यालय के आचार्य-पद को सुशोभित करनेवाले गुणमति बोधिसत्व ने सांख्य-दर्शन का खंडन बड़ी ही निर्दयता से करके बौद्ध मत की प्रकृष्टता सिद्ध की थी। इसी विश्वविद्यालय की बदौलत प्रभामित्र नाम पंडित ने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस नालंद-विश्वविद्यालय के जिनमित्र-नामक पंडित को तिब्बत-नरेश ने अपने देश में बुलाकर बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त किया था। चंद्रपाल, स्थिरमति, ज्ञानचंद्र और शीघ्रबुद्ध आदि पांडित्य-व्योम-मंडल के चमकते हुए तारे यहीं उदित हुए थे।

शीलभद्र का आदि नाम दंतदेव था। लड़कपन ही से वे विलक्षण प्रतिभाशाली और तीक्ष्ण-बुद्धि थे। सोलह ही वर्ष की उम्र में उन्होंने वेद, सांख्य, न्याय और वैद्यक-शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त कर ली। पर इतने ही से शीलभद्र को संतोष न हुआ। विद्यापरिशीलन-विषयक उनकी पिपासा न बुझी। उस समय नालंद का विद्यालय भारतवर्ष में अपना द्वितीय न रखता था। आप वहीं पधारे। इतनी छोटी उम्र

में ढाका छोड़कर आप मगध आये। उस समय महापंडित धर्मपाल नालंद के विद्वद्रत्न थे। यही वहाँ के सब से श्रेष्ठ आचार्य थे। शीलभद्र के बुद्धिप्राखर्य ने उनको मोहित कर लिया। थोड़े ही समय में शीलभद्र ने अपने विद्यागुरु के विद्या-भांडार को ग्रहण करके अपने हृदय, कंठ और जिह्वा के अर्पण कर दिया।

इसके कुछ समय बाद दक्षिण से एक पंडितराज मगध-नरेश की सभा में आये। उन्होंने आचार्य धर्मपाल को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। धर्मपाल सभा में बुलाये गये, पर दंतदेव ने गुरु को शास्त्रार्थ करने जाने से रोका। मेरे रहते मेरे गुरु से शास्त्रार्थ! पहले वह पंडित मुझे परास्त कर ले, तब मेरे गुरुदेव का मुक़ाबला करे। अन्यथा यह नहीं हो सकता। धर्मपाल अपने सच्छिष्य की योग्यता से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने कहा—

"सिद्धिरस्तु" — "गम्यतां वत्स"।

इस आदेश से और अध्यापक डरे। भला यह कलका अल्पवयस्क दंतदेव विजयी दाक्षिणात्य पंडित का कैसे मुक़ा-बला कर सकेगा? कहीं यह नालंद का नाम न धरावे! इस तरह की शंकाओं का उत्थान करके उन्होंने आचार्य की आज्ञा का प्रतिवाद किया। पर आचार्य धर्मपाल ने सबका समाधान कर दिया। दंतदेव मगध-राज के दरबार में अपना पांडित्य दिखाने के लिए रवाना हुए। साथ

सैकड़ों अध्यापक और विद्यार्थी भी गये । दूर-दूर से लोग यह शास्त्रार्थ सुनने के लिए आये। अद्भुत शास्त्रार्थ का दिन नियत हुआ। सभा-स्थान दर्शकों से भर गया। कहीं तिल रखने को जगह न रही। दाक्षिणात्य पंडित ने खड़े होकर पूर्व-पक्ष का उत्थान किया। घंटों उसने अपने पक्ष का समर्थन करके वैदिक धर्म का श्रेष्ठत्व और बौद्ध धर्म का हीनत्व प्रतिपादन किया । उसके बैठते ही दंतदेव उठे।

प्रतिपक्षी की दलीलों का खंडन आरंभ हुआ। उसकी एक-एक दलील दंतदेव की निष्ठुर और अखंडनीय युक्तियों के चक्र से कट-कटकर गिरने लगी। दंतदेव के उत्तर और प्रभावभरे वक्तव्य ने उस दाक्षिणात्य पंडित का दिल दहला दिया। वह काँपने लगा। सारी सभा में आतंक छा गया। अंत को दंतदेव ने जब "अहिंसा परमो धर्मः" की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया तब तो श्रोताओं पर विलक्षण प्रभाव पड़ा। विपक्षी दाक्षिणात्य पंडित के मुँह से एक शब्द भी, उत्तर में, न निकला । उसने पराजय स्वीकार किया और सभा-स्थल छोड़कर चल दिया। यह घटना ५५४ ईसवी में हुई। बौद्धों की इस जीत का संवाद सारे भारत ही में नहीं, चीन और तिब्बत तक में फैल गया। दंतदेव पर मगध-नरेश बहुत ही प्रसन्न हुए। गया के पास उन्हें कुछ ज़मींदारी या जागीर देने की इच्छा उन्होंने प्रकट की । पर दंतदेव ने

कहा—मुझ "भिक्षु" को धन-संपत्ति से क्या सरोकार? तथापि जब राजा ने न माना तब उन्होंने गया के पास एक विहार बनवा देने को प्रार्थना की। राजा ने यह प्रार्थना ख़ुशी से क़बूल की और एक बहुत अच्छा विहार बनवाकर बुद्ध के पवित्र नाम पर अर्पण कर दिया। तब से दंतदेव का नाम हुआ शीलभद्र। स्वार्थ-त्याग के कारण चीन के प्रवासियों और ग्रन्थकारों ने दंतदेव का उल्लेख इसी नाम से किया है।

यथासमय धर्मपाल ने निर्वाण पाया। उनकी जगह शील-भद्र को मिली। शीलभद्र १५१० उपाध्यायों और अध्यापकों के निरीक्षक नियत हुए। नालंद-विश्वविद्यालय के वे सर्व-श्रेष्ठ अधिकारी हुए। शीलभद्र के अधीन अध्यापकों के तीन दरजे थे। पहले में १० अध्यापक थे जो भिन्न-भिन्न ५० प्रकार के "सूत्रों" और "शास्त्रों" में पारंगत थे। दूसरे दरजे में ५०० अध्यापक थे। वे ३० प्रकार के "शास्त्रों" में निष्णात थे। तीसरे दरजे में १००० थे जो २० प्रकार के "सूत्रों" और "शास्त्रों" में कुशल थे। इन सबके ऊपर शीलभद्र थे। शीलभद्र वैदिक और बौद्ध दोनों धर्मों के सिद्धांतों के पार-गामी पंडित थे। विद्वत्ता में वे अपने समय में एक ही थे।

शीलभद्र को कोई ८२ वर्ष की उम्र में एक बार अवलो-कितेश्वर बोधिसत्त्व, मैत्रेय बोधिसत्त्व और मंजुश्री बोधि-सत्त्व के दर्शन हुए। उस समय शीलभद्र एक दुःखद रोग

से पीड़ित थे। बोधिसत्त्वों ने उन्हें बौद्ध धर्म का प्रचार करने और उस धर्म में दृढ़ विश्वास रखने का उपदेश दिया। इसके बाद वे अदृश्य हो गये। शीलभद्र का रोग भी जाता रहा। बोधिसत्त्वों ने चीन से आनेवाले प्रवासी ह्वेनसांग को बौद्ध धर्म का मर्म सिखलाने की भी आज्ञा दी।

इसके तीन वर्ष बाद ह्वेनसांग वज्रासन तीर्थ (बुद्ध-गया) में पहुँचा। यह खबर सुनते ही शीलभद्र ने ४ "श्रमण" उसे लेने भेजे। ह्वेनसांग ने इस आमंत्रण को बड़े भक्तिभाव से स्वीकार किया। तीर्थाटन करते हुए वह नालंद पहुँचा। २०० श्रमणों ने नालंद के विश्वविद्यालय के फाटक पर आकर उसकी अगवानी की। एक सहस्र बौद्धों ने स्तुति-पाठ किया। बड़े समारोह से ह्वेनसांग विश्वविद्यालय में लाया गया। जब वह सभामंडप में पहुँचा तब उसे एक श्रेष्ठ आसन दिया गया। वहाँ के प्रधान भिक्षु ने आज्ञा दी कि जब तक ह्वेनसांग वहाँ रहे उसका वही आदर किया जाय जो एक भिक्षु या उपाध्याय का करना चाहिए। कुछ देर विश्राम करने के बाद २० अध्यापकों ने ह्वेनसांग को शीलभद्र के सम्मुख उपस्थित किया। उस समय शीलभद्र की उम्र १०६ वर्ष की थी। उनके सिर में एक भी बाल न रह गया था। वे बिलकुल खल्वाट हो गये थे। ह्वेनसांग ने दंड-प्रणाम किया और शीलभद्र के पैरों को बड़ी भक्ति

से चूमा । शीलभद्र ने ह्वेनसांग को अपने कर-कमलों से उठाया और आशीर्वाद दिया । ह्वेनसांग उसी दिन से नालंद-विश्वविद्यालय का विद्यार्थी हुआ और कई वर्ष वहाँ रहकर बौद्ध आगमों का उसने अध्ययन किया ।

एप्रिल १६०८

---

## मधुरवाणी

पूर्व-काल में भारतवर्ष जहाँ और बातों में बढ़ा-चढ़ा था वहाँ स्त्री-शिक्षा में भी उसने बहुत कुछ उन्नति की थी। संस्कृत के अगाध साहित्य-सागर में ऐसे अनेक स्त्री-रत्नों का पता मिलता है जिन्होंने ब्रह्म-विद्या, गणित और कविता आदि में पारदर्शिता प्राप्त की थी। ऐसी ही मधुरवाणी नाम की एक स्त्री-कवि का हाल "इंडियन रिव्यू" नाम के अँगरेज़ी मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ है। उसका रचा हुआ एक संस्कृत-काव्य हाल ही में बंगलोर में पाया गया है। वह ताड़-पत्रों पर तैलंगी लिपि में लिखा हुआ है। वह तंजोर के रघुनाथ नायक-नामक राजा के दरबार में रहती थी। यज्ञनारायण दीक्षित-कृत साहित्य-रत्नाकर-काव्य और राजचूड़ामणि के रुक्मिणी-परिणय-काव्य से पता लगता है कि इस नाम के राजा ने १६१४ से १६६२ ईसवी तक राज्य किया। वह विद्वानों का संरक्षक और ख़ुद भी बड़ा विद्यानुरागी था।

यह राजा अपने वंश में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। तंजोर के नायक-राजाओं में इसका नंबर तीसरा था। इसके पिता अच्युतप्पा और पितामह चिनच्यवप्पा भी

बड़े प्रतापी, धर्मात्मा और विद्यारसिक थे। राजा रघुनाथ नायक रामोपासक था। उसने अपने राज्य में रामचंद्र के कितने ही मंदिर बनवा दिये थे। उनमें से श्रीरंगम, विजयराघवपुरम और कुंभकोणम के मंदिर बहुत प्रसिद्ध हुए। तीर्थों में धर्मशालाएँ भी उसने बनवा दी थीं और जगह-जगह पर सत्रशालाएँ भी खोली थीं।

मालूम होता है, संस्कृत के पठनपाठन का उस समय खूब प्रचार था। संस्कृत-साहित्य ने अच्छी उन्नति की थी। उसके समकालीन कवियों और लेखकों में से बहुतों का पता लगता है। जिनमें से मुख्य ये हैं—

(१) गोविंद दीक्षित—हरिवंशसार-चरित्र और संगीत-सुधानिधि का कर्ता।

(२) यज्ञनारायण दीक्षित—(नं० १ का पुत्र) साहित्य-रत्नाकर, रघुनाथ-भूप-विजय और रघुनाथ विलास-नाटक का कर्ता।

(३) वेंकटेश्वर दीक्षित—(सुप्रसिद्ध नीलकंठ दीक्षित का गुरु) वार्तिकाभरण आदि का कर्ता।

(४) राजचूड़ामणि दीक्षित—(विख्यात रत्नखेट दीक्षित का पुत्र) रुक्मिणी-परिणय, कंस-ध्वंस, रत्न-क्षेत्र-विजय, शंकराभ्युदय, आनंद-राघव, काव्य-दर्पण तथा अन्य कई ग्रंथों का कर्ता।

(५) कुमारताताचार्य—पारिजात-हरण-नाटक का कर्ता।

( ६ ) भास्कर दीक्षित—आत्मपरीक्षा आदि का कर्ता।

राजा रघुनाथ स्वयं संस्कृत और तैलंगी भाषा के अनेक ग्रंथों का कर्ता था। उसके संस्कृत के मुख्य-मुख्य ग्रंथ ये हैं—

( १ ) पारिजात-हरण ( २ ) नलाभ्युदय ( ३ ) अच्युताभ्युदय ( ४ ) रामायण-सार-संग्रह, ( ५ ) महाभारत-सार-संग्रह। इनके सिवा एक रामायण भी उसने तैलंगी भाषा में लिखी थी।

राजा रघुनाथ नायक एक दिन अपने दरबार में दरबारी स्त्रियों से घिरा हुआ बैठा था। उनमें से एक ने उसकी रची हुई आंध्र-भाषा की रामायण से कुछ श्लोक गाकर सुनाये। दूसरी ने उसकी राम-भक्ति की प्रशंसा की। इससे उसके मन में जो विचार उत्पन्न हुए वे मधुरवाणी के निम्नलिखित श्लोकों में वर्णित हैं—

हरेश्चरित्रं बहु तत्र रामकथासुधा कर्णरसायनं नः।
आस्वाद्यमानाऽपि सहस्रवारमयातयामैव सुखस्य दोग्ध्री॥
रसोत्तरं रामकथानुबन्धि काव्यं मया कल्पितमान्ध्रवाण्या।
कार्यं कया संस्कृतवाग्भिरेतदित्येवचित्ते गणयन्निवासीत्॥

भावार्थ—रामचरित हज़ार बार सुनने से भी तृप्ति नहीं होती। मैंने आंध्र-भाषा में राम का जो चरित-गान किया है उसे कौन स्त्री संस्कृत में लिख सकती है।

यही सोचते हुए राजा दरबार से उठ गया। उसी रात को भगवान् रामचंद्र ने स्वप्न में दर्शन देकर उससे कहा—

"चिंता मत कर। तेरी इस इच्छा को मधुरवाणी पूर्ण करेगी"। दूसरे दिन रघुनाथ भूप ने मधुरवाणी को स्व-रचित रामायण का संस्कृतानुवाद करने की आज्ञा दी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मधुरवाणी ने अपने संरक्षक की आज्ञा का पालन बड़ी ही योग्यता से किया।

इस काव्य में १४ सर्ग और १५०० श्लोक हैं। प्रथम सर्ग के पहले अड़तीस श्लोकों में अनेक देवी-देवताओं की स्तुति और प्रार्थना है। अगले ४ श्लोकों में (३९—४२ में) वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण और माघ आदि प्राचीन कवियों की प्रशंसा है। इसके आगे के दो श्लोकों में (४३—४४ में) दुःशील आधुनिक कवियों की निंदा है। निम्नलिखित पैंतालीसवें श्लोक में उसने सुकविता की उपमा अलंकार-विभूषित सौंदर्यशालिनी युवती से दी है—

संख्यावतां सर्वपथीनधीभिः संशोधिता चेत्कवितासभायाम्।
कस्तूरिकाचन्दनकुङ्कुमाद्यैरुद्वर्तिताङ्गी युवतीव दीव्यते ॥

इसके बाद राजा रघुनाथ के ऐश्वर्य और उसके दरबार की शोभा का चित्ताकर्षक और विस्तृत वर्णन है। तत्पश्चात् काव्य लिखने का कारण, जैसा कि ऊपर बयान किया गया है, लिखकर मधुरवाणी ने अपने मधुर काव्य का प्रथम सर्ग समाप्त किया है।

इसके आगे रामायण की आख्यायिका प्रारंभ होती है। दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग में दशरथ और उनके यज्ञ का वर्णन है। पाँचवें और छठे सर्ग में रामजन्म और उनकी बाल्य-लीला है। विश्वामित्र का आगमन, यज्ञ-रक्षा, ताड़का-वध, अहल्या-उद्धार, धनुष-भंग, विवाह और परशुराम-संवाद का वर्णन सातवें और आठवें सर्ग में है। अगले ६ सर्गों में वनवास, सीता-हरण, राम और सुग्रीव की मित्रता, बालि-वध और सीता की खोज आदि के संबंध की समस्त कथायें हैं। यहाँ तक की कथा ११५ पन्नों में पूरी हुई है। आगे के पन्ने नहीं मिलते। पर, आगे, तीन फुटकर (१२६, १२६, १४०) पन्नों को देखने से मालूम होता है कि कथा अधूरी नहीं छोड़ी गई।

मधुरवाणी ने इस ग्रंथ में अपनी काव्यमधुरता का अच्छा परिचय दिया है। वास्तव में उसका असली नाम यह न था। यह तो केवल गुण-विशिष्ट उपनाम मात्र था; जैसा निम्न-लिखित श्लोक से मालूम होता है—

चतुरमधुरवाणीं सम्यगाकर्ण्य यस्या-
स्सदसि मधुरवाणी-नाम दत्तं त्वयैव।
सरसकृतिविधायां साधुमेधाविशेषा-
स्वधिकपटुरशेषास्वम्बुजाक्षीषु सैषा॥

यह उपनाम उसे राजा रघुनाथ का दिया हुआ था। वह कैसी विदुषी और कला-कुशल थी, और उसकी

कवित्व-शक्ति कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, यह उसी के मनोहर शब्दों में हम, यहाँ पर, लिखते हैं—

चातुर्यमेति कवितासु चतुर्विधासु
वीणाकलाप्रकटने भवति प्रवीणा ।
प्रज्ञामियं निपुणमञ्चति पाणिनीये
मेधां व्यनक्ति बहुधा विविधावधाने ॥

तत्ताद्दग्घटिकार्धनिर्मितशतश्लोकी फणिग्रामणी—
वाणीप्राकृतशास्त्रनैपुणसमुन्मीलद्यशःश्रीजुषा ।
वीणावादकलाविनोदसमये धृत्वा समस्याशतं
सद्यस्संसदि साधु पूरयति या दत्ता कवीन्द्रैस्तथा ॥

मधुरवाणी वीणा बजाने में अत्यंत प्रवीणा थी। संस्कृत और तैलंगी भाषा में कविता करने की उसे अद्भुत शक्ति प्राप्त थी। वह आशु-कवि थी; आधी घड़ी में १०० श्लोक बना सकती थी। अर्थात् एक मिनट में ८ श्लोक से भी अधिक। यह क्या कुछ कम प्रशंसा की बात है; विशेष कर अबला जाति के लिए! केवल इतना ही नहीं, किंतु आशु-क्रिया—अष्टावधान आदि—में भी वह खूब सिद्ध-हस्ता थी। नैषध-काव्य और कुमार-संभव के छायानुवाद लिखने के सिवा उसने कई चंपू भी लिखे थे। यदि इस विषय में कुछ अतिशयोक्ति भी मान ली जाय, तो भी कोई विचारवान् मनुष्य मधुरवाणी के काव्य-माधुर्य, विलक्षण बुद्धि, कवित्व-शक्ति और विद्वत्ता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।

यद्यपि कवि ने अपनीही और अपने संरक्षक की प्रशंसा के ढेर के ढेर लगा दिये हैं, तथापि अपने माता-पिता और निवास-स्थान का कुछ भी हाल नहीं लिखा। अतएव हम उसका विशेष वृत्तांत जानने में असमर्थ हैं। हम इतना ही जानते हैं कि उसने एक विद्वान्-घराने में जन्म लिया था। उसके ग्रंथ से इतना और भी पता लगता है कि वह अद्वैत-मत की अनुयायिनी थी।

इस काव्य की हस्त-लिखित पुस्तक तैलंगी लिपि में है। ऐसा जान पड़ता है कि वह स्वयं मधुरवाणी के हाथ की लिखी हुई है; क्योंकि उसमें जो संशोधन किये गये हैं वे पुस्तक के मूल लेखक ही के हाथ के मालूम होते हैं। पुस्तक माइसोर-प्रांत में पाई गई है। नायक-राजाओं के समय में तंजोर और माइसोर में घनिष्ठ संबंध था। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि मधुरवाणी माइसोर-प्रांत ही की रहनेवाली थी। ख़ैर, जो हो, इसमें संदेह नहीं कि वह नारी-रत्न थी। वह अपने समय की शिक्षिता स्त्रियों में शिरोमणि थी। मालूम होता है कि उस समय स्त्री-शिक्षा उन्नतावस्था में थी। उस तरफ़ विदुषी और कला-कुशल स्त्रियों की कमी न थी। अकेले रघुनाथ नायक ही के दरबार में अनेक विद्याओं और कलाओं में निपुण कितनी ही स्त्रियाँ विद्यमान थीं। यह बात आगे लिखे श्लोकों से मालूम होती है—

विपञ्चिकायां चतुराः प्रगल्भाः शास्त्रेऽलिदक्षास्सरसप्रबन्धे ।
समीपमेतस्य समेत्य केऽपि सुभ्रूजनाः स्वस्वकला व्यवृण्वन् ॥
सर्वोत्तरस्वादिमसंस्कृतान्ध्रप्रबन्धनिर्माणपवेलिमानि ।
यशांसि भूयांस्यवतारयन्त्यस्सहस्रशस्सन्ति सरोजनेत्राः ॥

भारतवर्ष के लिए यह कुछ कम गौरव की बात नहीं कि अभी तीन ही सौ वर्ष पूर्व यहाँ काव्य रचने की शक्ति रखनेवाली अनेक विदुषी स्त्रियाँ जन्म लेती थीं। क्या भारत अपने प्राचीन गौरव को फिर कभी प्राप्त करेगा ?

जूलाई १९०८

---

# सुखदेव मिश्र

कविता के लिए प्रतिभा की आवश्यकता होती है। विना प्रतिभा के कोई कवि नहीं हो सकता। प्रतिभावान् पुरुष यदि कवि न भी हुआ, तो भी विशेष बुद्धिमान् और चतुर अवश्य होता है। प्रतिभाशाली पुरुष उत्पन्न करने की शक्ति बैसवाड़े में अधिक जान पड़ती है। इस प्रांत की भूमि कवियों को उत्पन्न करने में खूब उर्वरा है। हमारे जन्मग्राम का नाम दौलतपुर है। वह रायबरेली के ज़िले में, सदर स्टेशन से ३२ मील दूर, गंगा के किनारे है। वह बैसवाड़े के अंतर्गत है। इस गाँव में भी दो प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। उनमें से एक के विषय में हम कुछ लिखते हैं।

बैसवाड़ा अवध का एक छोटा-सा खंड है। तुलसीदास ने प्रायः इसी प्रांत की बोली में रामायण लिखी है। अवध में इतने कवि हो गये हैं कि ग्रियर्सन साहब को अपने "माडर्न वरनाकुलर लिटरेचर" (Modern Vernacular Literature)-नामक ग्रंथ के दसवें भाग में, केवल १८०० से १८५७ ई० के बीच में हुए कवियों के लिए, एक अध्याय का अध्याय ही अलग लिखना पड़ा है। १८०० के बाद,

हमारे गाँव के सिर्फ़ आस-पास, जितने कवि हुए हैं उनमें से कुछ का नाम-निर्देश हम नीचे करते हैं और यह भी लिखते हैं कि उनका स्थान हमारे यहाँ से कितनी दूर है—

( १ ) सुवंश शुक्ल। बिगहपुर । १२ मील। अमरकोश, रसतरंगिणी और रसमंजरी के हिंदी में अनुवाद-कर्ता।

( २ ) शिवसिंह सेंगर। काँथा। २६ मील। शिवसिंह-सरोज के कर्ता, बृहच्छिवपुराण के उर्दू और हिंदी-अनुवादक और ब्रह्मोत्तरखंड के हिंदी-अनुवादक।

( ३ ) जगन्नाथ अवस्थी। सुमेरपुर। १२ मील। महाराज मानसिंह ( अयोध्या ) और महाराज शिवदीन-सिंह ( अलवर ) के कवि। संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान्।

( ४ ) भवन कवि। बैंती। २६ मील। साहित्य-विषयक शृंगाररत्नाकर-नामक पुस्तक के प्रणेता।

( ५ ) बादेराय। डलमऊ। २० मील।

( ६ ) भवानीप्रसाद पाठक । मौरावाँ । २० मील । साहित्य-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान्। काव्य-कल्पद्रुम के रचयिता।

( ७ ) मिहींलाल ( मिलिंद )। डलमऊ। २० मील। गौरा के तअल्लुक़ेदार भूपालसिंह के कवि।

( ८ ) गिरिधारी। सातनपुर। १४ मील। शांत और शृंगार-रस के अच्छे कवि।

( ९ ) शंभुनाथ मिश्र । खजुरिगाँव । १२ मील । खजुरिगाँव के राजा यदुनाथसिंह के कवि और बैस-वंशावली के लेखक ।

( १० ) चिरंजीव* । लोग कहते हैं कि इन्होंने महाभारत का अनुवाद हिंदी में किया है ।

( ११ ) महानंद वाजपेयी* । इन्होंने बृहच्छिवपुराण का अनुवाद हिंदी में किया है ।

( १२ ) पंचम । डलमऊ । २० मील ।

( १३ ) गंगादयालु द्विवेदी । निसगर । २ मील । संस्कृत के अच्छे विद्वान्; हिंदी और संस्कृत दोनों के उत्तम कवि; संगीतशास्त्र के पारदर्शी । इनका शरीर-पात हुए अभी थोड़े ही दिन हुए ।

( १४ ) गुणाकर त्रिपाठी । काँथा । २६ मील । संस्कृत और हिंदी दोनों के अच्छे कवि ।

( १५ ) कालीचरण वाजपेयी । बिगहपुर । १२ मील ।

( १६ ) मूनू कवि । असोथर । २६ मील । अनेक ग्रंथों के कर्ता, जिनमें से राम-रावण का युद्ध मुख्य है ।

( १७ ) सुंदर कवि । असनी । १४ मील । रस-प्रबोध के कर्ता ।

---

* नंबर १० और ११ बैसवाड़े ही के कवि हैं, परन्तु, इसका पता नहीं लगता कि वे कहाँ के निवासी थे ।

(१८) शिवलाल दुबे। डौंड़ियाखेरा। ३ मील। अनेक पुस्तकों के कर्ता, जिनमें से नखसिख और षट-ऋतु मुख्य हैं।

इनमें से कुछ कवि ठीक वैसवाड़े के नहीं। परंतु उनका घर वैसवाड़े के बहुत ही पास था। सोलहवें शतक में हुए नरहरि और हरिनाथ भी हमारे यहाँ से, १४ मील दूर, असनी के रहनेवाले थे। प्राचीन समय में इस प्रांत में अनंत कवि हो गये हैं; उन सबका ठीक-ठीक पता लगाना अब असंभव-सा है। वर्तमान काल में भी, इस भूभाग में, कई प्रसिद्ध विद्वान् और पंडित हुए हैं। संस्कृत के अच्छे विद्वान्, हिंदी और संस्कृत में बहुत-से ग्रंथ लिखनेवाले, शिक्षा-विभाग में एक अच्छे पद का, बहुत दिनों तक, उपभोग करनेवाले, और आगरे के नूरुल्-इल्म और उदयपुर के सज्जन-कीर्ति-सुधाकर के संपादक, पंडित वंशीधर वाजपेयी इसी प्रांत के रहनेवाले थे। इनका मकान चिंताखेरा-नामक गाँव में था। यह गाँव हमारे यहाँ से आध ही मील दूर है। बनारस-कालेज के हेडमास्टर, त्रैभाषिक कोश आदि के बनानेवाले और अँगरेज़ी के बहुत बड़े विद्वान्, पंडित मथुराप्रसाद मिश्र भी इसी तरफ़ के थे। इनका घर बकसर में था। यह गाँव दौलतपुर से सिर्फ़ दो मील है।

इसी दौलतपुर को सुखदेव मिश्र ने अपने निवास से बहुत काल तक अलंकृत किया। इनको कोई-कोई "शुकदेव" भी लिखते हैं; परंतु यहाँ पर ये सुखदेव ही के नाम से प्रसिद्ध

हैं और अपनी पुस्तकों में इन्होंने अपना नाम सुखदेव ही लिखा है। इसी से हमने भी इनका यही नाम लिखना उचित समझा। ग्रियर्सन साहब और शिवसिंह सेंगर ने, इनके विषय में, बड़ा गड़बड़ किया है। एक जगह आप इनको "सुखदेव मिसर" लिखते हैं और कंपिला के रहनेवाले बतलाते हैं। दूसरी जगह आप इनका नाम "सुखदेव कवि" लिखते हैं और अंतर्वेद (गंगा-यमुना के बीच का भाग) इनका देश बतलाते हैं। तीसरी जगह आप इनका नाम "सुखदेव मिसर कवि" लिखते हैं और दौलतपुर इनका स्थान बतलाते हैं। ग्रियर्सन साहब ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक विशेष करके शिवसिंह-सरोज के आधार पर ही लिखी है। कहीं-कहीं तो आपने शिवसिंह के लेख का शाब्दिक अनुवाद तक कर डाला है। इससे शिवसिंह-सरोज में सुखदेव-जी के विषय में जो गड़बड़ है वही ग्रियर्सन साहब की पुस्तक में भी है। साहब को शिवसिंह-सरोज आदि में जैसा मिला है वैसा ही उन्होंने अपनी पुस्तक में लिख दिया है। ग्रियर्सन साहब ने यह पुस्तक लिखकर हम लोगों पर बहुत उपकार किया है। हम उनके कृतज्ञ हैं और बहुत कृतज्ञ हैं। जहाँ तक कवियों का सही-सही हाल उनको मिला वहाँ तक उन्होंने लिखा। जान-बूझकर उन्होंने लिखने में बेपरवाही नहीं की। परंतु कहीं-कहीं उनके लेख में भ्रम ज़रूर हो गया है। एक जगह आप लिखते हैं—

"बाबू हरिश्चंद्र का कविवचनसुधा भी एक सर्व-प्रिय ग्रंथ है। उसमें पावस-वर्णन के पद्यों का संग्रह है"!

अस्तु। सुखदेवजी की जन्मभूमि, गंगा के किनारे, "कपिलमुनि की बसाई" कंपिला-नामक नगरी है। वे कान्यकुब्ज-ब्राह्मण, हिमकर के मिश्र, थे। विवाह उनका कंपिला ही में हुआ। जगन्नाथ और बुलाकीराम दो पुत्र भी उनके वहीं हुए। लड़कपन में उन्होंने मामूली तौर पर संस्कृत का थोड़ा-सा अभ्यास किया। जब वे बड़े हुए और दो पुत्र भी उनके हो चुके तब जो कुछ उन्होंने पढ़ा-लिखा था वह उन्हें काफ़ी न मालूम हुआ। उनके हृदय में अधिक विद्योपार्जन की इच्छा उत्पन्न हुई। इसलिए वे बनारस गये। वहाँ पर किसी विद्वान् संन्यासी से वे संस्कृत पढ़ने लगे। कुछ काल तक वे बड़े परिश्रम से विद्याध्ययन करने और रात-रात-भर अध्ययन में निमग्न रहने लगे। सुनते हैं, वे अपने अध्यापक संन्यासी के ही मकान पर रहते थे। एक बार रात को बहुत देर तक वे अपने पाठ का विचार करते रहे। उनके पास ही वे संन्यासी महात्मा सोते थे। सोते समय किसी-किसी का मुँह अकसर खुल जाया करता है। संन्यासीजी का भी मुँह उस रात को अकस्मात् खुल गया और उसके भीतर से निकलती और प्रवेश करती हुई एक विशेष प्रकार की ज्योतिःशिखा को सुखदेवजी ने देखा।

उन्होंने उस ज्योति को भक्तिभाव-पूर्वक प्रणाम किया और अपना पाठ याद करके सो रहे।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब वे फिर अपना पाठ लेने लगे तब उन्होंने पढ़ते समय बहुत कुछ प्रगल्भता दिखाई और बुद्धिमानी से भरे हुए अनेक प्रश्न करने आरंभ किये। उनका यह बुद्धिप्राखर्य देखकर उनके अध्यापक महात्मा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने सुखदेवजी से इस वैलक्षण्य का कारण पूछा। तब उन्होंने रात की बात बतलाई। इस पर संन्यासी ने कहा कि अब आपको पढ़ने में अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं। आपको अब विद्या प्राप्त हो गई समझिए। ग्रंथावलोकन-मात्र आपके लिए अब दरकार है। इस घटना के अनंतर सुखदेवजी अपने उस विद्यागुरु संन्यासी से शीघ्रता-पूर्वक ग्रंथावलोकन करने लगे और थोड़े ही दिनों में तंत्र और साहित्यशास्त्र में निष्णात हो गये।

यह बात सुखदेवजी के वंशजों को परंपरा से मालूम होती चली आई है। वे एक सिद्ध पुरुष और महात्मा थे, यह बात उनके अनेक अलौकिक कृत्यों से भी प्रकट होती है। पर इसका निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह कब की बात है। न तो सुखदेवजी के जन्म-मरण का समय ही ज्ञात है और न यही ज्ञात है कि कब वे बनारस गये और कितने दिनों तक वहाँ रहे। परंतु जिन राजाओं और तअ़ल्लुक़ेदारों के यहाँ वे रहे उनके समय का विचार करने से

यह सिद्ध होता है कि वे १७२० और १७६५ ईसवी के बीच में विद्यमान थे। इससे उनको हुए कोई डेढ़ सौ वर्ष बीते। यह बात सुखदेवजी के शिष्य शंभुनाथ के ग्रंथों से भी स्पष्ट है। शिवसिंह सेंगर, रामविलास-रामायण के कर्ता शंभुनाथ को वंदीजन कहते हैं और वैतालपच्चीसी इत्यादि के कर्ता को त्रिपाठी बतलाते हैं। परंतु, यहाँ लोग कहते हैं कि दोनों एक ही व्यक्ति हैं। यही नहीं, किंतु भगवंतराय खीची के यहाँ रहनेवाले शंभुनाथ भी वही हैं। रामविलास में शंभुनाथ लिखते हैं—

वसु-ग्रह-मुनि-शशधर * बरस सित फागुन को मास।
शंभुनाथ कविता दिनैं कीन्हों रामविलास॥
श्रीगुरु कवि सुखदेव के चरनन ही को ध्यान।
निर्मल कविता करन को वहै हमारे ज्ञान॥

फिर वैतालपच्चीसी में आप कहते हैं—

नंद-व्योम-श्रुति जानिकै संवत्सर † कवि शंभु।
छवि-कदंब लखि अंब के कीन्हों तत आरंभ॥

इन दोहों से यह सिद्ध होता है कि जो संवत् इनमें दिये हुए हैं उन्हीं के दो-चार वर्ष इधर या उधर सुखदेवजी हुए हैं।

विद्याध्ययन समाप्त करके सुखदेवजी अपने घर नहीं गये। काशी से वे सीधे असोथर आये। फ़तेहपुर के ज़िले

* संवत् १७९८ † संवत् १८०९

में असोथर एक क़सबा है। वहाँ पर, उस समय, भगवंतराय खीची-नामक एक राजा था। वह बड़ा गुणग्राही था। उसी के यहाँ सुखदेवजी रहे। सुखदेवजी के गुणों पर वह राजा इतना लुब्ध हो गया कि उनका शिष्य होकर वह सेवक बन गया। वहाँ सुखदेवजी का बड़ा सम्मान हुआ। ग्राउस साहब ने फ़तेहपुर-गज़ेटियर के परिशिष्ट में भगवंतराय खीची का हाल लिखा है। वह स्वयं कवि था। कई पुस्तकें उसने लिखी थीं। परंतु अब उनका कुछ पता नहीं। भगवंतराय ने बहुत वर्षों तक बादशाह को मालगुज़ारी नहीं दी। वह स्वतंत्र हो गया था और दो-एक बार बादशाही फ़ौजों को उसने परास्त भी किया था। परंतु १७६० ईसवी में वह दग़ा से मारा गया।

सुखदेवजी शाक्त थे। वे तारा के उपासक थे। यंत्र द्वारा उसकी वे विधि-पूर्वक पूजा-अर्चा किया करते थे। इस प्रकार की पूजा में मद्य-मांस की भी आवश्यकता होती है; अतएव वह सामग्री भी सुखदेवजी को इकट्ठी करनी पड़ती थी। यह बात लोगों ने भगवंतराय से कह दी। सुनकर उसे आश्चर्य हुआ। ऐसे विद्वान्, ऐसे पंडित और ऐसे अच्छे कवि की पूजन-सामग्री में मद्य-मांस! उसको इस बात पर विश्वास न हुआ। इसलिए उसने ख़ुद इसकी सत्यता अथवा असत्यता की जाँच करनी चाही। एक दिन, जिस समय उसके आदमियों ने उसे ख़बर दी कि

मिश्रजी विधि-पूर्वक पूजा करने जाते हैं उसी समय, वह मिश्रजी के पास आकर उपस्थित हुआ। ऐसे कुसमय में भगवंतराय को आया देख सुखदेवजी के चेहरे पर क्रोध, आश्चर्य और घृणा के चिह्न आविर्भूत हो आये। परंतु भगवंतराय को उन्होंने आसन दिया और आने का कारण पूछा। उसने कहा कि पूजा के समय सिर्फ़ आपका दर्शन करने आया हूँ। इस समय पूजन की सामग्री के बीच एक पात्र में मद्य और एक पत्तल में मांस भी ढका हुआ रक्खा था। भगवंतराय के आने के समय सुखदेवजी पूजन में निमग्न थे; परंतु उसके आने पर उन्होंने पूजा स्थगित कर दी और उसकी तरफ़ वे मुख़ातिब हो गये।

कुछ देर तक और-और बातें करने के अनंतर, भगवंतराय ने वहाँ पर रक्खे हुए सब पदार्थों का नाम पूछना और सुखदेवजी ने सबके नाम बतलाना शुरू किया। यथाक्रम उस पात्र और पत्तल की बारी आई। वे ढके हुए थे। उनके विषय में भी जब भगवंतराय ने प्रश्न किया तब मिश्रजी के नेत्रों में और भी अधिक अरुणिमा आ गई। परंतु नाम बतलाने में उन्होंने ज़रा भी संकोच या विलंब नहीं किया। उन्होंने कहा कि पात्र में दूध और पत्तल में गुड़हल के फूल हैं। यह कहकर पास ही खड़े हुए सेवक को हुक्म दिया कि इन दोनों के ढक्कन खोल दो। परंतु वह तो जानता था कि उनमें वे पदार्थ नहीं हैं; इसलिए उसने खोलने में

आनाकानी की। जब दो बार कहने पर भी उसे खोलने का धैर्य न हुआ तब सुखदेवजी ने उस पात्र और पत्तल के ढकन को खुद खोल दिया। खोलते ही, उनके कहने के मुताबिक़, उनमें दूध और गुड़हल के फूल देख पड़े। यह करके सुखदेवजी ने फूलों से भरी हुई वह पत्तल तारा के यंत्र के ऊपर ज़ोर से उलट दी और दूध भी उसी पर डाल दिया। फिर आपने पूजन नहीं किया और उसी वक़्त वहाँ से प्रस्थान करने को तैयार हो गये। यह सब लीला देखकर भगवंतराय चकित हो उठा। उसने अनेक प्रकार से क्षमा-प्रार्थना की। उसके यहाँ बहुत-से और पंडित तथा कवि थे। उनको भी मध्यस्थ करके उसने अपना अपराध क्षमा कराने की कोशिश की; परंतु सब व्यर्थ हुआ। सुखदेवजी उसी दिन वहाँ से चले आये और फिर कभी वहाँ नहीं गये।

दौलतपुर से २ मील दूर, गंगा के किनारे, बकसर नाम का एक गाँव है। उसके पास ही चंडिका का एक प्राचीन मंदिर है। सुखदेवजी असोथर से रवाना होकर वहीं आये और एक कुटी में विरक्तवत् रहने लगे।

चंडिका के मंदिर से थोड़ी दूर पर डौंड़ियाखेरा-नामक एक गाँव था। उसमें मर्दनसिंह नामधारी एक तअ़ल्लुक़ेदार थे। उनको राव का ख़िताब था। उस प्रांत में उनकी प्रभुता ख़ूब बढ़ी-चढ़ी थी। बादशाह से उन्होंने कई परगनों की मालगुज़ारी वसूल करने का ठेका

ले लिया था। राव मर्दनसिंह के अंतिम वंशज राव रामबख़्श हुए। उन्होंने, अभाग्यवश, १८५७ ईसवी में, अँगरेज़ों से प्रतिकूलता की और बाग़ी हो गये। इसका फल यह हुआ कि उनकी रियासत अँगरेज़ी गवर्नमेंट के कोपानल में भस्म हो गई; और, अंत में पकड़े जाकर, बकसर में, उनको फाँसी हुई। इस समय इनकी राजधानी के खँडहरों में गीदड़ों, भेड़ियों और लोमड़ियों आदि अमंगल जानवरों का निष्कंटक राज्य है।

बकसर में सुखदेवजी की ख्याति प्रतिदिन बढ़ने लगी। बहुत आदमी उनके शिष्य हो गये। उनकी प्रशंसा और पंडिताई जब राव मर्दनसिंह ने सुनी तब उनको भी उनसे मिलने की उत्कंठा हुई। मिलकर वे इतने प्रसन्न हुए कि वे भी उनके शिष्य हो गये। यहाँ भी परीक्षा ने उनका पिंड न छोड़ा। कहते हैं, उनकी कुटी में साही नाम की एक युवा स्त्री रहती थी। वह सुखदेवजी की सदा सेवा और परिचर्या करती थी। किसी-किसी का कथन है कि वह बाल-विधवा थी; परंतु किसी-किसी का मत है कि वह कुमारिका थी—उसका विवाह न हुआ था। इस स्त्री के कारण मिश्रजी के विषय में लोग नाना प्रकार के कुतर्क करने लगे; उन्होंने उनका दुर्लौकिक फैलाना आरंभ किया। जब यह संवाद राव मर्दनसिंह के कान तक पहुँचा तब उनको बहुत खेद हुआ। उन्होंने सब बातें प्रत्यक्ष

देखने का इरादा किया। लोगों के प्रवाद पर उनको विश्वास न हुआ। अतएव एक दिन वे स्वयं सुखदेवजी की कुटी में आये। सुखदेवजी महात्मा थे; उन्होंने अंतर्ज्ञान से मर्दनसिंह के आने का कारण जान लिया। अतएव, जहाँ राव मर्दनसिंह उनकी कुटी के प्रांगण में आये तहाँ उन्होंने कहा—"साही, राव साहब के लिए आसन ले आ"। यह कहते ही वह सुस्वरूपा स्त्री कुटी के भीतर से आसन लेकर निकली। यथास्थान उसने आसन बिछा दिया। बिछाकर वह राव के सामने ही दूसरी ओर बाहर चली गई। आसन बिछ जाने और मर्दनसिंह के बैठ जाने पर, फिर सुखदेवजी ने साही को पुकारा और जल लाने की आज्ञा दी। पूर्ववत् फिर एक वैसी ही साही कुटी से निकली। उसने जल दिया और वह भी बाहर चली गई। सुखदेवजी की आज्ञा के अनुसार तीसरी साही पान लाई; चौथी पुष्पमाला लाई; पाँचवीं कुछ और लाई। इस प्रकार दस-पाँच साही उस कुटी के भीतर से निकलीं और अपना-अपना काम करके बाहर चली गईं। यह लीला देखकर राव मर्दनसिंह हैरान हो उठे; आतंक और भक्तिभाव से उनकी अजब हालत हो गई। उन्होंने सुखदेवजी को बार-बार सप्रेम और सभय प्रणाम किया और अपनी अविवेकता पर खेद प्रकट किया। राव मर्दनसिंह की इस कारस्वाई से मिश्र महाराज के पूजन-पाठ में कोई व्यतिक्रम या विघ्न तो

आया न था; इसलिए उन्होंने राव पर कोप-प्रदर्शन न करके उनके कृतापराध को क्षमा कर दिया। तब से राव मर्दनसिंह उनकी बहुत ही इज़्ज़त करने लगे। उनके लिए एक स्थान उन्होंने अपनी राजधानी में बनवा दिया। वहीं सुखदेवजी रहने और पूजा-पाठ तथा काव्यालाप में अपने समय का सद्व्यय करने लगे।

डौंड़ियाखेरा में कवियों का बड़ा आदर था। वहाँ राजाश्रय में रहकर तीर्थराज-नामक एक कवि ने संस्कृत-समरसार का हिंदी-अनुवाद किया। यह ज्योतिष का ग्रंथ है; इसमें युद्ध-विषय है। सुखदेवजी के शिष्य शंभुनाथ त्रिपाठी भी बहुत दिनों तक डौंड़ियाखेरा में रहे थे। उन्होंने वैताल-पंचविंशतिका का भाषांतर हिंदी-गद्य में किया और मुहूर्तचिंतामणि का हिंदी-पद्य में। उन्होंने रामविलास-नामक एक रामायण की भी रचना की। साहित्य-शास्त्र में सुखदेवजी के जितने शिष्य थे उन सबमें शंभुनाथ और जयदेव ही प्रसिद्ध हुए। शंभुनाथ डौंड़िया-खेरा में अचलसिंह के आश्रय में और जयदेव कवि देहली में नव्वाब फ़ाज़िलअलीख़ाँ के आश्रय में बहुत दिनों तक रहे।

धीरे-धीरे सुखदेवजी की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई। दूर-दूर से लोग उनके दर्शनों के लिए आने लगे। उन के शिष्यों की भी संख्या बढ़ती गई। उनकी कीर्तिकौमुदी का

प्रकाश जब अमेठी के राजा हिम्मतसिंह की राजधानी में पहुँचा तब हिम्मतसिंह को भी उनके दर्शनों की उत्कंठा हुई। सुखदेवजी अमेठी गये। वहाँ भी उनका ख़ूब सम्मान हुआ। तब से वे कुछ दिन डौंड़ियाखेरा और कुछ दिन अमेठी में रहने लगे। जो राजा या तअल्लुक़ेदार इनसे मिलता वह इनका शिष्य हुए बिना न रहता। हिम्मतसिंह ने भी इनसे गुरुदीक्षा ली।

जिस समय सुखदेवजी अमेठी में थे, एक ब्राह्मण का लड़का मर गया। उस ब्राह्मण ने सुखदेवजी का माहात्म्य सुना था। इसलिए लड़के का निर्जीव शरीर लाकर सुखदेव-जी के स्थान के सामने रख दिया और अंत को उस शरीर को वहीं छोड़ वह अपने घर चला आया। सुखदेवजी बड़े संकट में पड़े। बहुत सोच-विचार के अनंतर उन्होंने देवी की स्तुति आरंभ की, जिसका अंतिम पद्य यह था—

त्रान तुही और लज्जा तुही
तुही लक्ष्मी है सीतले मेरी गुसाइनि।
आपनो कै मोहिं जानती हो
मैं सदा ही परो रहौं तेरे ही पायनि॥
जाहि निवाजै निहाल ह्वै जाइ सो
जानत हौं सब तेरे सुभाइनि।
तेरो भिखारी हौं भीख दे मोहिं
तू राखि ले बाल बड़ी ठकुराइनि॥

सुनते हैं, इसके समाप्त होते ही उस बालक के शरीर में प्राण-संचार हो आया।

एक बार डौंड़ियाखेरा के राव मर्दनसिंह बीमार हुए। बीमारी यहाँ तक बढ़ी कि जीने की आशा न रही। उस समय सुखदेवजी अमेठी में थे। इसलिए वहाँ से उनको लाने के लिए आदमी गये। मिश्रजी आये तो नहीं, परंतु जो लोग उनको बुलाने गये थे उनसे उन्होंने कह दिया कि यद्यपि राव मर्दनसिंह की हालत बहुत बुरी है तथापि वे मरेंगे नहीं। यह कहकर उन्होंने दो संस्कृत-श्लोक और एक हिंदी सवैया उनको दिया। सवैया यह था—

अरि-मंडल फोरि फते करिके
पर-फौजन फारि कै नाखिबे है।
बहु-संख्यक छंद-प्रबंध बनाय
हमैं जस रावरो भाखिबे है॥
अकुलाने कहा मरदाने ह्वै
रस औनन ते तुम्हैं चाखिबे है।
रघुनायक राम की नाईं तुम्हैं
जग में रहिबे जग राखिबे है॥

कहते हैं कि जब ये पद्य लेकर आदमी डौंड़ियाखेरा आये तब मर्दनसिंह म्रियमाण दशा में गंगा के किनारे पहुँचाये जा चुके थे। सुखदेवजी की आज्ञा थी कि यदि मर्दनसिंह सुन सकें तो उनको यह कविता सुना दी जाय; यदि देख

सकें तो दिखा दी जाय; और यदि यह भी न कर सकें तो गंगाजल में घोलकर पिला दी जाय। सुनने और देखने की शक्ति क्षीण हो जाने से, यह कविता जल से धोकर, किसी तरह उनको पिला दी गई; कविता का काग़ज़ गंगाजल में घोलकर वही जल उनके मुँह में डाल दिया गया। कहा जाता है कि इसके थोड़ी ही देर बाद राव मर्दन-सिंह ने आँखें खोल दीं और वे, क्रम-क्रम से, नीरोग हो गये।

जिस मर्दनसिंह के ऊपर सुखदेवजी की इतनी कृपा थी उसका परित्याग आपने एक ज़रा-सी बात पर कर दिया। महात्माओं की सभी बातें विलक्षण होती हैं। एक दफ़े आप अमेठी से डौंड़ियाखेरा वापस आये। वहाँ आकर देखते हैं तो मौरावाँ-निवासी निशाकर-नामक एक पंडित इनके स्थान में ठहरे हुए हैं। इनके आते ही राव के आदमी इनके ठहराने और सेवा-शुश्रूषा में लग गये। परंतु एक पंडित और इज़्ज़तदार आदमी को, जो भूल से मिश्रजी के स्थान पर ठहरा दिये गये थे, निकाल देना उचित न समझा गया। इसलिए मिश्रजी से प्रार्थना की गई कि आप तब तक अपने से भी अच्छे एक अन्य स्थान पर ठहरें। परंतु अपने स्थान पर दूसरे का ठहराया जाना सुखदेव महाराज को सहन न हुआ। उन्होंने किसी की विनती और किसी की प्रार्थना न मानी। जो लोग उनकी सांत्वना करने आये थे, उनसे

आपने केवल इतना ही कहा कि अब यहाँ निशाकर रहने लगे हैं तो निशाचर ही रहेंगे। आपने कुपित होकर यह भी कहा कि हम क्या हमारे वंश का कोई भी आदमी अब यहाँ न आवेगा। सुखदेवजी की वाणी सत्य निकली। अब डौंड़ियाखेरा में सचमुच ही निशाचर रहते हैं। उनके वंशजों में से केवल एक सुजान-नामक मिश्र कुछ काल तक डौंड़ियाखेरा के राव के आश्रय में रहे। परंतु उनके कुटुंब का समूल नाश हो गया। यह शायद सुखदेवजी के आज्ञोल्लंघन का ही फल हो।

डौंड़ियाखेरा छोड़कर सुखदेवजी फिर बकसर आ गये और वहाँ पर अपनी पुरानी कुटी में रहने लगे। यद्यपि राव मर्दनसिंह ने बहुत मनाया और फिर अपने यहाँ ले जाने की बहुत कोशिश की; परंतु आप किसी तरह जाने पर राज़ी न हुए। इन घटनाओं से सुखदेवजी को हिंदू-राजाओं से कुछ घृणा-सी हो गई। परंतु राज-सभाओं में बैठने और काव्या-लाप करने का आपको चसका-सा लग गया था। इससे आपने फिर राजाश्रय लेना चाहा। इस बार आपने हिंदू छोड़ मुसलमान के यहाँ रहना उचित समझा। अतएव अपनी काव्य-कला और अलौकिक करामातों से औरंगज़ेब के मंत्री नव्वाब फ़ाज़िलअलीख़ाँ को प्रसन्न करके आप उसके यहाँ रहने लगे। एक दिन दरबार में आप बैठे थे कि बाहर नक़ारे की आवाज़ सुनाई दी। इस पर फ़ाज़िलअलीख़ाँ ने

पूछा—"पंडितजी यह क्या कह रहा है" ? आपने तत्काल उत्तर दिया—

द्वार दमामे ना बजत कहत पुकार-पुकार।
हरि न भजे ते पशु भये परत चाम पर मार॥

इसे सुनकर नव्वाब बहुत ख़ुश हुआ।

दौलतपुर से पाँच मील पर मुरारिमऊ-नामक एक अच्छी रियासत है। इसके तअल्लुक़ेदार राजा कहलाते हैं। बैसों में अकेले इन्हीं को, इस तरफ़, राजा की पदवी प्राप्त है। जब तक ये अपने अँगूठे से तिलक नहीं करते तब तक दूसरे तअल्लुक़ेदारों या राजाओं का तिलकोत्सव सिद्ध नहीं माना जाता। विद्रोह के वक़्त यहाँ के तत्कालीन राजा ने अँगरेज़ों की बहुत ख़ैरख़्वाही की। इस उपलक्ष्य में उनको बहुत-सा इलाक़ा भी मिला। सुखदेवजी के समय में वहाँ देवीसिंह-नामक राजा थे। मुरारिमऊ और डौंड़ियाखेरा में बहुत दिनों से विरोध चला आता था। इसलिए राजा देवीसिंह ने अपने विरोधी मर्दनसिंह के कवि को आश्रय देने में अपनी बड़ाई समझी। इसलिए वे मिश्रजी को अपने यहाँ लाये और उनके शिष्य हुए।

सुखदेवजी पर राजा देवीसिंह की भक्ति बढ़ती गई। जब से सुखदेवजी ने कंपिला को छोड़ा था तब से उन्होंने अपने स्त्री-पुत्र और कुटुंब से कुछ भी संबंध न रक्खा था। किसी से अपने घर का पता तक उन्होंने न बतलाया था। परंतु

राजा देवीसिंह ने उनको यहाँ तक प्रसन्न किया कि उन्होंने अपने घर का ठीक-ठीक पता बतला दिया। तब से राजा देवीसिंह उनसे अपनी स्त्री और पुत्रों को बुलाने के लिए अनुरोध करने लगे। रगड़ बुरी होती है; जिस बात के पीछे पड़े रहो वह, एक-न-एक दिन, सिद्ध ही हो जाती है। सुखदेवजी ने राजा देवीसिंह की प्रार्थना स्वीकार कर ली। तब यह विचार दरपेश हुआ कि आपके लिए मकान कहाँ पर बने। सुखदेवजी गंगा के बड़े भक्त थे। सुनते हैं, एक दिन, आप दौलतपुर के पास गंगा-स्नान के लिए आये। घाट पर आपने स्नान किया और पूजन के अनंतर विष्णु-सहस्रनाम का पाठ आरंभ किया। पाठ समाप्त न हुआ था कि आप वहाँ से चल दिये और पाठ जारी रक्खा। धारा से कोई तीन फ़र्लांग पर, दौलतपुर में, आपका पाठ ख़तम हुआ। तब आपने कहा कि हमारे लिए विश्राम की यही जगह ठीक होगी। बस, फिर क्या था, राजा देवीसिंह ने आपके लिए वहीं पर मकान बनवा दिया और उनके कुटुंब को भी कंपिला से बुलाकर वहीं रख दिया। सुखदेवजी यद्यपि अपने पुत्र-कलत्र के साथ, वहाँ पर, आमरण रहते रहे, तथापि, सुनते हैं, वे गृहस्थाश्रम के झंझटों में ज़रा भी लीन नहीं हुए। गंगा-स्नान, भगवद्भजन और काव्यालाप ही में उनका शेष जीवन व्यतीत हुआ। गंगा की स्तुति में उन्होंने बहुत-सी फुटकर कवितायें कही हैं।

सुखदेवजी को कई जगह बड़ी-बड़ी जागीरें मिलती थीं; परंतु, उनके वंशजों का कथन है, उन्होंने उनको लेना स्वीकार नहीं किया। वे कहते थे कि हमको किसी प्रकार की संपत्ति अपेक्षित नहीं; जो कुछ दिन-भर में मिलता है उसे शाम तक देवार्पण कर देना ही हम अपनी परिमित प्राप्ति का सदुपयोग समझते हैं। परंतु राजा देवीसिंह ने बहुत कुछ कह-सुनकर दौलतपुर लेने पर उनको राज़ी किया। उन्होंने उसे खुद तो लिया नहीं; अपने लड़कों को दिला दिया। बहुत दिनों तक सुखदेवजी के वंशजों का अधिकार इस गाँव पर रहा; परंतु, बाद में, कई कारणों से, वह उनके हाथ से निकल गया। इस गाँव के पास, गंगा के किनारे, एक पक्का घाट है और कई शिवालय भी हैं। कुटीर भी कई बने हुए हैं, जहाँ कभी-कभी साधु-संन्यासी आकर ठहरा करते हैं।

दौलतपुर में भी सुखदेवजी की सिद्धि की एक-दो परीक्षायें हुईं। उनसे मिलने और उनके दर्शन करने के लिए लोग दूर-दूर से आते थे, यह बात प्रसिद्ध है। सुनते हैं, एक बार, गंगातट पर, जल के बिलकुल सन्निकट, वे पूजा कर रहे थे। इतने में एक महात्मा उनसे मिलने आये। कुछ देर तक वार्तालाप के अनंतर उन्होंने सुखदेवजी के हाथ में एक गुटिका दी और कहा कि यह बड़े काम की चीज़ है। इसे मैंने बड़े परिश्रम से पाया है। इसमें यह गुण है कि इसे

मुख में रखने से अनेक अलौकिक काम करने की शक्ति आ जाती है। यह सुनकर मिश्रजी ने कहा—"बस, इसमें इतना ही गुण है!" यह कहकर उन्होंने उसे गंगा में फेंक दिया। इस पर वह आगंतुक बहुत कुपित हुआ और इनको बुरा-भला कहने लगा। यह देखकर सुखदेवजी ने अपने दोनों हाथों की अंजली बनाकर चुपचाप गंगा के भीतर डाली और उसमें भरी हुई वैसी ही कोई बीस-पच्चीस गुटिकायें निकालीं। तब उस महात्मा से आपने कहा कि इनमें से आपकी जो गुटिका हो उसे आप पहचानकर ले लें। यह अघटित घटना देखकर वह आगंतुक अवाक् हो रहा और सुखदेवजी की स्तुति करता हुआ मार्गस्थ हुआ।

एक और भी इसी तरह की घटना एक बार हुई। इस बार भी वे पूजा कर रहे थे कि एक विद्वान् उनसे मिलने आये और उनके देवसिंहासन का मुख, विना हाथ लगाये, अपनी तरफ़ फेर दिया। परंतु ज्यों ही यह बात सुखदेवजी के ध्यान में आई त्यों ही वह सिंहासन, आप-ही-आप, फिर पूर्ववत् उनकी तरफ़ हो गया। ये बातें यहाँ के वृद्ध मनुष्य परंपरा से सुनते चले आते हैं।

जिस तरह सुखदेवजी के जन्म-काल का पता नहीं लगता उसी तरह उनके मृत्यु-काल का भी नहीं लगता। यह खेद की बात है। परंतु यह निश्चित है कि उनका शरीर-पात यहीं उनके गाँव में हुआ।

सुखदेवजी के चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—रसार्णव, वृत्त-विचार-पिंगल, शृंगारलता और फ़ाज़िल-अली-प्रकाश। डौंड़िया-खेरा के राव मर्दनसिंह के लिए उन्होंने रसार्णव बनाया; अमेठी के राजा हिम्मतसिंह के लिए वृत्त-विचार-पिंगल बनाया; मुरारिमऊ के राजा देवीसिंह के लिए शृंगारलता बनाई; और नव्वाब फ़ाज़िल-अलीख़ाँ के लिए फ़ाज़िल-अली-प्रकाश बनाया। रसार्णव में नायिका-भेद है; वृत्त-विचार में वृत्तों के लक्षण और उदाहरण हैं; और फ़ाज़िल-अली-प्रकाश में साहित्य के सब अंगों—काव्य के गुण-दोष, लक्षणा, व्यंजना और अलंकार आदि—का वर्णन है। परंतु हम यह नहीं कह सकते कि शृंगारलता में क्या है। न हमने इस पुस्तक को देखा और न यहाँ (दौलतपुर में) इसके विषय से कोई अभिज्ञ मिला।

शिवसिंह के आधार पर ग्रियर्सन साहब कहते हैं कि सुखदेवजी गौड़ में अर्जुनसिंह के बेटे राजा राजसिंह के यहाँ भी थे और वहाँ उनको कविराज की पदवी मिली थी। वे और शिवसिंह यह भी कहते हैं कि गौड़ में उन्होंने वृत्तविचार-नामक छंदोविषयक एक ग्रंथ बनाया, जो हिंदी के छंदोग्रंथों में सबसे अच्छा समझा जाता है। परंतु सुखदेवजी के वंशजों को इस बात की बिलकुल ख़बर नहीं। वे कहते हैं कि सुखदेवजी कभी गौड़ नहीं गये और वृत्त-विचार-पिंगल उन्होंने गौड़ में नहीं बनाया। उसे उन्होंने

अमेठी में हिम्मतसिंह के लिए बनाया । उसके आरंभ में उन्होंने हिम्मतसिंह को आशीर्वाद कहा है, यथा—

"सुखदेव सदाशिव मुदित मन हिम्मतसिंह नरिंद कहँ।"

कविराज की पदवी भी गौड़ से उन्हें नहीं मिली। वे अपने फ़ाज़िल-अली-प्रकाश में लिखते हैं—

अलहयार-ख़ाँ भुजबली सुमति सूर सिरताज।
जिन्हें दियो कविराज पद बड़ो ग़रीब निवाज़॥

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि कविराज की पदवी इनको अलहयारख़ाँ ने दी थी, गौड़-नरेश ने नहीं। सुखदेवजी के बनाये हुए ग्रंथों में ग्रियर्सन और शिवसिंह एक छंदो-विचार-पिंगल बतलाते हैं। वह शायद किसी दूसरे सुखदेव का बनाया हुआ होगा। वे यह भी लिखते हैं कि सुखदेवजी ने अध्यात्मप्रकाश * और दशरथराय नाम के भी दो ग्रंथ बनाये हैं; परंतु इस बात से भी दौलतपुर-निवासी बुड्ढे-बुड्ढे मिश्र अनभिज्ञता प्रकाशित करते हैं। उनका मत है कि ये ग्रंथ भी शायद किसी दूसरे सुखदेव के बनाये हैं। ये पुस्तकें हमारे देखने में नहीं आईं। इससे इस विषय में हम विशेष कुछ नहीं कह सकते। यदि वे देखने को मिलतीं तो, संभव था, इस बात का निर्णय हो जाता कि वे किसकी बनाई हुई हैं।

---

* यह एक छोटा-सा ग्रंथ है, जो पीछे हमें देखने को मिला। यह भी सुखदेवजी की ही रचना है।

सुखदेवजी ने अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथों का संग्रह किया था। परंतु, बड़े अफ़सोस की बात है, वे प्रायः सभी नष्ट हो गये। उनके वंशजों में कुछ लोग ऐसे निकले जिन्होंने उनकी संचित पुस्तकों का नाश ही कर डाला। कुटुंब अधिक होने से इन लोगों में कई बार हिस्सा-बाँट हुए। एक दफ़े, बाँट-चूँट के समय, सरस्वती के कुछ सच्चे सेवकों ने पुस्तकें बाँटने में अश्रुतपूर्व कारवाई की। उन्होंने बेठन खोल-खोलकर सब पुस्तकों को एक जगह रक्खा। फिर सबको एक दूसरी से मिलाकर अनाज की ऐसी राशि बनाई। तब आप लोगों ने तराज़ू पर रखकर बराबर-बराबर पन्ने, या जिसको जितने मिलने थे उतने, बाँट लिये। इस तरह हर हिस्सेदार ने सब पुस्तकों के थोड़े-थोड़े पन्ने लेकर सुखदेवजी के कीर्तिकल्पद्रुम की रक्षा की! बहुत संभव है, सुखदेवजी के अन्य अप्राप्य ग्रंथ इन महात्माओं ने निर्मूल कर दिये हों।

एक महाशय के यहाँ सुनहरी स्याही से, लाल काग़ज़ पर, सुखदेवजी के हाथ से लिखे हुए एक पुस्तक के कुछ पन्ने देखकर हमको बड़ी मनोवेदना हुई। उनकी लिखावट ऐसी स्पष्ट, सम और सुंदर थी कि एक-एक पत्र एक-एक चित्र-सा मालूम होता था।

सुखदेवजी की बनाई हुई पुस्तकें खोजने में हमको बहुत प्रयास पड़ा। यह निबंध लिखने की इच्छा हमें अपने गाँव,

दौलतपुर, ही में हुई और वहीं हम इसे लिख भी रहे हैं। इच्छा होने पर हमने मिश्रजी के वंशजों से उनकी पुस्तकें देखने को माँगी। परंतु अजीब-अजीब तरह के उत्तर हमें मिले। एक ने कहा—"कहि न सकब हमरे हियाँ हैं कि नाहीं"। दूसरे ने कहा—"रहै तो पोथी मुदा × × × × सहरै लै कै चले गे"। तीसरे ने कहा—"बाबा की पोथी हमारे हींसा मा नहीं परीं; भाई के हियाँ ह्वैहैं; उनहिन ते पूँछौ"। चौथे ने कहा—"रहैं तो मुदा मिलती ही नहीं ना; हम तो दुइ दिन ढूँढ़ि कै हारि गैन"। जब हमने यह दशा देखी तब मूड़ मारकर चुप हो रहे। परंतु एक सज्जन ने, पीछे से, हम पर कृपा की, जिससे हम यह लेख लिखने में समर्थ हुए।

ग्रियर्सन साहब और शिवसिंह कहते हैं कि सुखदेवजी हिंदी के कवियों में आचार्य माने जाते हैं। यह बात बहुत ठीक जान पड़ती है। इनकी पुस्तकें इस बात को सिद्ध कर रही हैं। इनके ग्रंथों में से रसार्णव की कविता बहुत ही अच्छी है। उसमें वर्णन किये गये विषय का विचार न करके केवल कविता का विचार करने से यह अवश्य कहना पड़ता है कि वह सर्वथा "आचार्य" के योग्य हुई है। स्थान की संकीर्णता के कारण हम इस पुस्तक से सिर्फ़ दो ही एक पद्य उद्धृत कर सकेंगे। जो पुस्तक हमारे सामने है वह संवत् १८६३ की लिखी हुई है। उसका आरंभ इस प्रकार हुआ है—

कानन टूटैं बिघन के जानन के यह ज्ञान।
कज आनन की जाति मिटि गज आनन के ध्यान॥
मरदनराउ निदेश को सादर शीश चढ़ाय।
मिश्र सुकवि सुखदेव नै दीन्हौं ग्रंथ बनाय॥

इसमें सुखदेवजी चंद्राभिसारिका का यह उदाहरण लिखते हैं—

जो है जहाँ मगु नंदकुमार,
तहाँ चली चंदमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब,
फूलि रही जनु कुंद की डार है॥
भीतर ही जु लखी सो लखी,
अब बाहिर जाहिर होति न दार है।
जोन्ह-सी जोन्हैं गई मिलि यों,
मिलि जाति ज्यों दूध में दूध की धार है॥

पुस्तक के अंत में आप कहते हैं—

यह मरदान रसारनो पूरो कीन्हौं ग्रंथ।
याके जाने जानिये रस-ग्रंथन को पंथ॥

सुखदेवजी की फुटकर कविता में—

(१) त्यों भुवकंत बिना भगवंत लगै अब अंतर-बेद न नीकी।

(२) इतै कवि मुख तें जस आखर खुलत उतै पाखर समेत पील खुलैं पीलखाने तें।

इत्यादि पद्य बहुत ही अच्छे हैं।

सुखदेवजी के वंश में उनके प्रपौत्र शीतलादीन भी अच्छे कवि हुए। उन्होंने राधाभोगविलास नाम की एक पुस्तक लिखी है; परंतु उसका भी सर्वनाश हो गया, या बची और जो बची तो कहाँ और किसके पास है—इसका पता नहीं लगता। सभी मिश्र महाराज दुहाई देते हैं कि उनमें से किसी के पास नहीं। शीतलादीनजी बीच में अंधे हो गये थे। अंधे-पन में उन्होंने विष्णु और वैष्णवी, दोनों की प्रार्थना में, फुट-कर कविता की है। नेत्रों का विकार जाने के लिए वे औषधि भी करते थे। उनकी, इस समय की, कविता के दो उदाहरण देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं—

विष्णु की प्रार्थना—

द्विरद की पुकार सुनि ग्राह ते बचायो धाय<br>
द्रुपदी की लाज-काज चीर भयो आय है।<br>
गौतम की नारि पग परसि पुनीत कीन्हों<br>
खंभ फोरि आयो प्रहलाद-काज धाय है॥<br>
सीतल महीतल में केते उपकार कीन्हे<br>
याही के प्रभाव तेरो जस जग गाय है;<br>
नैनन निरंजन जो अंजन न लागि हौ तो<br>
बिरद तिहारो सब रद परि जाय है॥

देवी की प्रार्थना में उन्होंने कई कवितायेँ लिखी हैं। उनमें से एक यह है—

परमपददानी सिद्धि निधि की निसानी
घट-घट में समानो चहूँ वेदन बखानी है।
महिषासुर मारि चंड-मुंडहि बिदारि
रक्तबीजहि संहारि शुंभ दानवै रिसानी है॥
महा मरदानी गहे कठिन कृपानी कहि
सीतल सयानी तिहूँ लोकन में जानी है।
दादि सुनि लीजै, मेरे नैन करि दीजै,
सुनि पाथर पसीजै तू तो आदि महरानी है॥

यह कविता बुरी नहीं है। "कविराज" के वंश में उत्पन्न कवि के सर्वथा अनुरूप है।

अक्टोबर १९०८

# हीरविजय सूरि

जैनियों में हीरविजय सूरि नाम के एक बड़े महात्मा और बड़े विद्वान् हो गये हैं। वे अकबर बादशाह के समय में थे। देव-विमल-गणि-कृत हीरसौभाग्य-नामक काव्य से उनका बहुत कुछ हाल मालूम हो सकता है। इस काव्य में अकबर, उसकी राज्यव्यवस्था, उसके धार्मिक विचार आदि के संबंध में भी बहुत-सी बातें हैं। जैन पंडितों पर वह कितनी कृपा करता था, उनकी प्रार्थनाओं को वह कहाँ तक मानता था और उनको कितने आदर की दृष्टि से देखता था, इन बातों का भी पता हीरसौभाग्य से लगता है। जगद्गुरु-काव्य नाम का एक और भी ग्रंथ संस्कृत में है। उससे भी इन बातों का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है। सभी धर्मों और संप्रदायों के महात्माओं और पंडितों से वार्तालाप करके अकबर अपने धार्मिक ज्ञान की वृद्धि करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। तत्त्वज्ञान और सत्य चाहे जहाँ से प्राप्त हो सके, उसे प्राप्त करने के लिए वह सदैव सचेत रहता था। इसी कारण वह जैन और हिंदू-विद्वानों ही को नहीं, क्रिश्चियन धर्म के अनुयायियों तक का आदर-सत्कार करने में उदारता दिखाता था। काशी के जैन-शासन-

नामक पत्र के एक अंक में एक लेख, इस विषय में, निकल चुका है। उसी का सारांश हम नीचे देते हैं। उससे अकबर की धर्मोदारता का हाल और हीरविजय सूरि का संक्षिप्त चरित, दोनों बातें पाठकों को मालूम हो जायँगी।

अकबर के दरबार में जितने विद्वान् थे सब पाँच श्रेणियों में विभक्त थे। हीरविजय सूरि पहली श्रेणी में थे। दो और जैनी पंडित भी अकबर के यहाँ थे—विजयसेन सूरि और भानुचंद्र उपाध्याय। वे पाँचवीं श्रेणी में थे।

हीरविजय का जन्म पालनपुर में हुआ था। जब वे १२ वर्ष के थे तभी उनके माता-पिता मर गये। हीरविजय की बहन पाटन-नगर में ब्याही थी। अतएव वे निराश्रित होकर वहीं चले गये। वहाँ विजय-सूरिनामक विद्वान् से उनकी भेंट हुई। उसके उपदेशों ने हीरविजय के हृदय पर इतना असर किया कि वे संसार से विरक्त हो गये। इस तरह १२ ही वर्ष की उम्र में, १५३९ ईसवी में, उन्होंने विजयदान सूरि से दीक्षा ग्रहण करके शास्त्राभ्यास में मन लगाया। कुछ दिन बाद उनके गुरु ने उन्हें देवगिरि-निवासी धर्मसागर उपाध्याय के पास न्यायशास्त्र पढ़ने भेज दिया। वहाँ से पूरे पंडित होकर वे गुजरात लौट आये। १५५१ ईसवी में उन्हें वाचक की उपाधि मिली और १५५३ में सूरि की।

हीरविजय की विद्वत्ता का समाचार अकबर ने जो सुना तो उसने मोदी और कमाल नाम के अपने दो कर्मचारियों

को, अपना फ़रमान देकर अहमदाबाद के गवर्नर, शहाबुद्दीन-अहमदख़ाँ, के पास भेजा। उसमें उसने हीरविजय सूरि को अपने दरबार में भेज देने के लिए हिदायत की। फ़रमान के विषय में हीरसौभाग्य-काव्य के ग्यारहवें सर्ग में इस प्रकार लिखा है—

मदीयानुगः साहिबः खान आस्ते
हितैषी पितेवाङ्गिनां गुर्जरेषु।
ददातां युवां तस्य निःशेषवाच्यं
दधानं स्फुरन्मानमेतन्मदीयम् ॥

इस फ़रमान को पाकर शहाबुद्दीन अहमद ने अहमदाबाद के प्रधान-प्रधान जैनों को एकत्र किया और उनसे सब हाल कहा। विजय सूरि उस समय किसी और शहर को गये हुए थे। इससे कुछ प्रतिष्ठित जैन मिलकर वहाँ उनके पास गये और उनसे शाही फ़रमान की बात कही। हीरविजय सूरि ने समझा कि अकबर के दरबार में जाने से जैन-धर्म को बहुत कुछ लाभ पहुँचने की संभावना है। इसलिए उन्होंने फ़तहपुर सीकरी, जहाँ पर कि अकबर उस समय रहता था, जाना स्वीकार किया। जो लोग उन्हें फ़रमान की सूचना देने गये थे वे उनके साथ अहमदाबाद लौट आये। वहाँ शहाबुद्दीन-अहमदख़ाँ उनसे प्रेम-पूर्वक मिला। हाथी, घोड़े और बहुत-सा धन वह सूरि महोदय को देने लगा; परंतु उन्होंने कुछ भी लेना मंज़ूर न किया। जो दो आदमी

फ़रमान लेकर अहमदाबाद गये थे उन्हीं के साथ वे फ़तहपुर के लिए पैदल रवाना हुए। पट्टन, सिद्धपुर, सिरोही, मेड़ता आदि जिन-जिन स्थानों में वे पहुँचे सभी कहीं वहाँ के अधिकारियों और प्रतिष्ठित पुरुषों ने उनका यथेष्ट सत्कार किया। जब वे साँगानेर पहुँचे तब अपने शिष्य विमलहर्ष को बादशाह के पास, अपने आगमन की सूचना देने के लिए उन्होंने भेजा। बादशाह ने थानसिंह आदि अपने अफ़सरों को आज्ञा दी कि बड़ी धूमधाम के साथ हीरविजय सूरि की अगवानी की जाय। शाही अफ़सर और अनेक प्रमुख जैन फ़ौज, रथ, घोड़े और हाथी लेकर साँगानेर पहुँचे। उनके साथ सूरि महाराज फ़तहपुर आये। वहाँ एक रात जगमल कछवाहे के महल में वे रहे। दूसरे दिन वे शाही दरबार में उपस्थित हुए। परंतु उस समय अकबर एक बहुत आवश्यक और महत्त्व का काम कर रहा था। इस कारण उसने हीर-विजय सूरि की सेवा-शुश्रूषा का काम अबुलफ़ज़्ल को सौंपा।

अबुलफ़ज़्ल हीरविजय सूरि को अपने महल में ले गया। वहाँ उसने बड़े ही भक्ति-भाव से उन्हें बिठाया। कुछ देर बाद उसने हीरविजय सूरि से धर्म-संबंधिनी बातें पूछीं। उसके प्रश्न का सारांश हीरसौभाग्य के अनुसार नीचे दिया जाता है—

अबुलफ़ज़्ल ने कहा—"हमारे क़ुरान में लिखा है कि मरने पर मुसलमान-धर्म के अनुयायियों के शरीर, धरोहर

के तौर पर, पृथ्वी के पेट में रख दिये जाते हैं। प्रलयांत में उन सब शरीरों की आत्मायें अपनी-अपनी क़बरों से निकलकर खुदा नाम के परमेश्वर के सामने खड़ी होंगी। खुदा उस समय सब के पुण्य-पाप का विचार, पक्षपातरहित होकर, करेगा। सबको पुण्य और पाप का फल उस समय वह उसी तरह देगा जिस तरह कि पृथ्वी, उसमें बोये गये बीजों का फल, देती है। कुछ स्वर्ग को भेज दिये जायँगे, जिन्हें नाना प्रकार के भोग—अप्सरादि—प्राप्त होंगे और कुछ नरक को भेजे जायँगे, जहाँ उन्हें अनिर्वचनीय दुःख भोगने पड़ेंगे। हे महात्मा! आप कृपा करके बतलाइए कि क़ुरान में जो ये बातें लिखी हैं वे सच हैं या केवल आकाश-कुसुम के समान निमूर्ल हैं।"*

---

* पैगम्बरैर्नः समयेषु सूरे पुरातनैर्व्याहृतमेतदस्ति।
निक्षिप्यते न्यास इव क्षमायां यमातिथिर्यो यवनस्य वंश्यः॥
खुदाह्वयश्रीपरमेश्वरस्यास्थानीं स्थितस्याधिपतेरिवोर्व्याः।
उत्थाय पृथ्व्याः परिवर्त्तकाले गन्ता समग्रोऽपि जनः पुरस्तात्॥
आदर्शिकायामिव पुण्यपापे संक्राम्य संशुद्धनिजोपलब्धौ।
विधासते साधु स तत्र तस्य न्याय्यं निरस्य स्वपरानुरोधम्॥

※ ※ ※ ※

कुरानवाक्यं किमिदं यथार्थं महात्मनां वाक्यमिवास्ति सूरे।
इव प्रसूने गगनस्य तस्मिन्नुताभ्युदेति व्यभिचारिभावः॥
( हीरसौभाग्य, सर्ग १३ )

इस प्रश्न को सुनकर हीरविजय सूरि ने पूर्वोक्त सिद्धांत का खंडन कई श्लोकों में करके, अंत में यह कहा कि न तो इस संसार का कोई पैदा ही करनेवाला है और न कोई इसका नाश ही करनेवाला। इसमें ये जो अनेक प्रकार की विभिन्नतायें देख पड़ती हैं उनका कारण प्राणियों ही के प्राक्तन कर्म हैं। अतएव मेरी राय में किसी स्रष्टा का अस्तित्व मानना बंध्या-पुत्र का अस्तित्व मानने के समान है—

कर्ता च हर्ता निजकर्मजन्यवैचित्र्यविश्वस्य न कश्चिदस्ति।
बंध्यात्मजन्मेव तदस्ति भावोऽसन्नेव चित्ते प्रतिभासते तत्॥

यह सुनकर अबुलफ़ज़्ल बहुत ख़ुश हुआ—

इदं गदित्वा विरते मुनीन्द्रे शेखः पुनर्वाचमिमामुवाच।
विज्ञायते तद् बहुगर्ह्यवाचि वीचीव तथ्येतरता तदुक्तौ॥

अर्थात्, अबुलफ़ज़्ल ने यह कहा कि इस दशा में यही कहना पड़ता है कि हमारी धर्म-पुस्तकों में बहुत-सी तथ्येतर बातें हैं। यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि संसार के कर्तृत्व आदि के संबंध में हीरविजय का बतलाया हुआ सिद्धांत जैन-धर्म के अनुयायियों का सिद्धांत है।

अकबर को काम से फ़रसत होने पर, सूरि महोदय शाही दरबार में बुलाये गये। वहाँ जाने पर क्या हुआ सो जगद्-गुरु-काव्य के प्रणेता के एक श्लोक से अवगत कीजिए—

चंगा हो गुरुजीतिवाक्यचतुरो हस्ते निजं तत्करं
कृत्वा सूरिवराञ्चिनाय सदनान्तर्वस्त्ररुद्धाङ्गणे।

तावच्छ्रीगुरवस्तु पादकमलं नारोपयन्तस्तदा
वस्त्राणामुपरीति भूमिपतिना पृष्टाः किमेतद्गुरो ॥

अकबर ने पूछा—"गुरुजी! चंगे तो हो?" अकबर की हिंदी का यह नमूना ध्यान में रखने लायक़ है। फिर उनका हाथ पकड़कर अकबर उन्हें महलों के भीतर ले गया और बिछौने पर बिठाना चाहा। पर हीरविजय ने वस्त्रासन पर पैर रखने से इनकार कर दिया। इस पर अकबर को आश्चर्य हुआ और सूरि महोदय से उसने इसका कारण पूछा। जैनशास्त्रों में इस तरह बिस्तरे पर बैठने की आज्ञा नहीं है—इत्यादि बातें जब अकबर ने सुनीं तब उसे और भी आश्चर्य हुआ। जैन-साधु सवारी नहीं रखते, वे सदा पैदल ही चलते हैं। अतएव हीरविजय भी अहमदाबाद से पैदल ही आये हैं, यह सब सुनकर अकबर के आश्चर्य की सीमा न रही। खैर अतिथि-समादर-संबंधिनी बातें हो चुकने पर धर्म-चर्चा छिड़ी। अकबर की आज्ञा पाकर सूरि ने धर्म परमेश्वर और सद्गुरु के लक्षण निरूपित किये। इसके सिवा और भी अनेक बातें उन्होंने कहीं। हीरविजय की शुचिता, निस्पृहता और विद्वत्ता आदि देखकर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। अकबर ने उन्हें बहुत-सी धर्मविषयक पुस्तकें भेंट कीं। पहले तो मुनि महाराज ने उन्हें लेने से इनकार किया। परंतु अबुलफ़ज़्ल के बहुत कहने पर उन्हें ले लिया और कुछ दिन बाद आगरे के पुस्तकालय को दे दिया।

अकबर से मिलकर सूरि महाराज आगरे आये। १५८२ ईसवी का चातुर्मास्य उन्होंने वहीं बिताया। वहाँ से वे फिर फ़तहपुर सीकरी गये और अबुलफ़ज़्ल के महलों में अकबर से मिले। बादशाह को वहाँ उन्होंने धर्मोपदेश भी दिया। अकबर इस बार उन्हें बहुत धन, हाथी, घोड़े, रथ आदि देने लगा; पर हीरविजय ने नम्रता-पूर्वक अपनी अनिच्छा प्रकट की। अकबर ने बहुत इसरार किया तो उन्होंने कहा—मुझे कुछ देने के बदले आप क़ैदियों को छोड़ दीजिए, जो चिड़ियाँ पिंजड़ों में बंद हैं उन्हें उड़ा दीजिए और हम लोगों की पर्युषणा के समय, आठ दिन तक, जीव-हिंसा-निवृत्ति की आज्ञा दीजिए—

प्रारभ्य मेचकनभोदशमीं शमीश<br>
यावन्नभस्य बहुलेतरषष्ठिका स्यात्।<br>
तावच्चरन्तु सुखमङ्गिगणास्त्रिलोकी—<br>
जीवातुनेव भवतां वचसेत्युदित्वा॥

(हीरसौभाग्य, सर्ग १४)

अकबर ने मुनिवर की आज्ञा शिरोधार्य की। उसने आठ ही नहीं, बारह दिन तक जीवहिंसा न की जाने का फ़रमान जारी कर दिया। कुछ दिन बाद नवरोज़ में भी पशुहिंसा न की जाने का हुक्म हो गया—

श्रीमत्पर्युषणादिना रविमिताः सर्वे रवेर्वासराः<br>
सोफीयानदिना अपीददिवसाः संक्रान्तिघस्राः पुनः।

मासः स्वीयजनेर्दिनाश्च मिहिरस्यान्येऽपि भूमीन्दुना
हिन्दुम्लेच्छमहीषु तेन विहिताः कारुण्यपण्यापगाः ॥
तेन नवरोजदिवसास्तनुजजनूरजबमासदिवसाश्च ।
विहिता अमारिसहिताः सलतास्तरवो घनेनेव ॥

( हीरसौभाग्य, सर्ग १४ )

रविवार को भी हिंसा बंद कर दी गई । जिस महीने में अकबर का जन्म हुआ था उसमें भी पशु न मारे जाने की आज्ञा हो गई । इसके सिवा, हिंदुओं, विशेष करके जैनों, को ख़ुश करने के लिए और भी कई दिन ऐसे निश्चित किये गये जिनमें पशु-हिंसा करनेवालों को प्राण-दंड तक दिये जाने का हुक्म हो गया । सारे राज्य में इस विषय के फ़रमान जारी हो गये । इस बात का उल्लेख प्रसिद्ध इतिहास-लेखक बदाऊनी ने भी किया है । विजय-प्रशस्ति-नामक महाकाव्य में भी यह बात लिखी हुई है ।

मेजर जनरल सर जान मालकम की लिखी हुई मेमायर आव् सेंट्रल इंडिया नाम की एक पुस्तक, दो जिल्दों में, है । उसकी दूसरी जिल्द में उन्होंने भी इस फ़रमान का ज़िक्र किया है । उन्होंने लिखा है कि उज्जैन के एक जैन-मंदिर में यह फ़रमान अब तक सुरक्षित है । उस मंदिर का अधिकारी उसे साहब के पास ले गया और उनसे प्रार्थना की कि जैनों की पर्युषणा के १२ दिनों में हिंसा न की जाने के विषय में वे भी इसी तरह का एक आज्ञापत्र लिख दें ।

अकबर के इस फ़रमान का अनुवाद भी मालकम साहब ने अपनी पुस्तक में दिया है। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे प्रकाशित करते हैं—

"IN THE NAME OF GOD. GOD IS GREAT.

"Firman of the Emperor Jalalodeen Mahomed Akbar Shah, Padsha, Ghazee.

"BE it known to the Moottasuddies of Malwa, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object, that of delighting and gaining the hearts of our subjects, etc.

"We, on hearing mention made of persons of any religion or faith, whatever, who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclination to admit them to our association,

from a wish to do what may be acceptable to the Deity. On this account, having heard of the extra-ordinary holiness and of the severe penances performed by Hirbujisoor and his disciples, who reside in Guzerat and are lately come from thence, we have ordered them to the presence, and they have been ennobled by having permission to kiss the abode of honour.

"After having received their dismissal and leave to proceed to their own country, they made the following request:—That if the King, protector of the poor, would issue orders that during the twelve days of the month Bhadon, called Putchoassur (which are held by the Jains to be particularly holy) no cattle should be slaughtered in the cities where their tribe reside, they would thereby be exalted in the eyes of the world, the lives of a number of living animals would be spared, and the actions of His Majesty would be acceptable to God;

and as the persons who made this request came from a distance, and their wishes were not at variance with the ordinances of our religion, but on the contrary were similar in effect with those good works prescribed by the venerable and holy Mussalman, we consented, and gave orders that, during those twelve days called Putchoassur, no animal should be slaughtered.

"The present sunnud is to endure for ever, and all are enjoined to obey it, and use their endeavours that no one is molested in the performance of his religious ceremonies.

*Dated 7th Jumad-ul-Sani. 992, Hijirah."*

इस फ़रमान के दिये जाने का प्रमाण एक और फ़रमान में भी है। यह भी अकबर ही का फ़रमान है। इसे उसने जयचंद्र सूरि की प्रार्थना पर दिया था। इसकी एक नक़ल हमारे पास काशी के मुनिवर इंद्रविजयजी ने भेजी है। यह फ़ारसी में है ऊपर शाही मुहर की नक़ल है। इसका अक्षरांतर आगे दिया जाता है—

"फ़रमान जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर
बादशाह ग़ाज़ी—

"हुक्काम किराम व जागीरदारान व करोरियान व सायर मुत्सद्दियान मुहिम्मात सूबै मुलतान बिदानंद—

"कि चूँ हमगी तवज्जोह खातिर खैरंदेश दर आसूदगी जमहूर अनाम बल काफ़्फ़ए जांदार मसरूफ़ व मातूफ़स्त कि तबक़ात आलम दरमहाद अमन बूदा बफ़रोगे बाल बइबादत हज़रत एज़िद मुतआल इश्तग़ाल नुमायंद। व क़ब्ले अज़ीं मुरताज़ खैरअंदेश जैचंद सूर खरतरगच्छ कि बफ़ैज़ मुलाज़िमत हज़रते मा शरफ़ इखतिसास याफ़ता हक़ीक़त व खुदातलबी ओ व ज़हूर पैवस्ता बूद। ओरा मशगूल मराहिम शाहंशाही फ़रमूदैम्। मुशारन्इलेहै इल्तिमास नमूद कि पेश अज़ीं हीरविजय सूरि सागर शरफ़ मुलाज़िमत् दरियाफ़्ता बूद। दर हर साल दोवाज़दह रोज़ इस्तदुबा नमूदा बूद कि दरां अय्याम दर मुमालिके महरूसा तसलीख जांदारे न शवद। व अहदे पैरामून मुर्ग़ व माही व अमसाले आँ न गरदद। व अज़ रूय मेहरबानी व जाँपरवरी मुल्तमसे ऊ दरजै क़बूल याफ़्त। अकनू उम्मेदवारम् कि यक हफ़्तै दीगर ईं दुवागोय् मिस्ले आँ हुक्मे आली शरफ़ सुदूर यावद्। बिनाबर उमूम राफ़्त हुक्म् फ़रमूदैम् कि अज़ तारीखे नौमी ता पूरनमासी अज़ शुक्लपच्छ असाढ़ दर हर साल तसलीख जांदारे न शवद्। व अहदे दर

मक़ाम आज़ार जांदार ... ... ... मोरे न गर्दद । व अस्ल खुद आँनस्त कि चूँ हज़रते बेचूँ अज़ बराए आदमी चंदीं न्यामतहाय गूनागूँ मुहय्या करदा अस्त। दर् हेच वक़् दर् आज़ार जानवर न शवद्। वशिकमें खुदरा गोर हैवानात न साज़द । लेकिन बजेहत् बाज़े मसालह दानायान पेश तजवीज़ नमूदा अंद। दरींविला आचार्य जिनसिंह सूरि उर्फ़ मानसिंह ब अरज़ अशरफ़ असक़द् रसानीद् कि फ़रमाने कि क़ब्ल अज़ीं बशरह सदर अज़ सुदूर याफ़्ता बूद गुम शुदह । बिनाबराँ मुताबिक़ मज़्मून हमा फ़रमान मुजद्द फ़रमान मरहमत फ़रमूदैम् । मे बायद् कि हस्बुल मस्तूर अमल नमूदा ब तक़दीम रसानंद । व अज़ फ़रमूदह तखल्लुफ़ व इनहिराफ़ न वरज़ंद । दरीं बाब निहायत एहतमाम व क़दग़न् अज़ीम लाज़िम दानिस्ता तग़इयुर व तबद्दुल बक़वायद आँ राह न दिहंद । तहरीरन् फ़ीरोज़ रोज़ सी व यकुम माह खुरदाद इलाही सन् ४६।"

(१) "ब रिसालए मुक़र्रबुल हज़रतस्सुलतानी दौलत-खाँ दर चौकी ( उमदे उमरा )।"

(२) "ज़ुब्दतुलआयान राय मनोहर दर नौबत वाक़या-नवीसी, खाजा लालचंद ।"

जोधपुरनिवासी मुंशी देवीप्रसादजी ने इसका अनुवाद हिंदी में इस तरह किया है—

फ़रमान अकबर बादशाह ग़ाज़ी का—

"सूबे मुलतान के बड़े-बड़े हाकिम, जागीरदार, करोड़ी और सब मुतसद्दी ( कर्मचारी ) जान लें कि हमारी यही मानसिक इच्छा है कि सारे मनुष्यों और जीव-जंतुओं को सुख मिले, जिससे सब लोग अमन चैन से रहकर परमात्मा की आराधना में लगे रहें। इससे पहले शुभचिंतक तपस्वी जयचंद सूरि खरतरगच्छ हमारी सेवा में रहता था। जब उसकी भगवद्भक्ति प्रकट हुई तब हमने उसको अपनी बड़ी बादशाही की मिहरबानियों में मिला लिया। उसने प्रार्थना की कि इससे पहले हीरविजय सूरि ने सेवा में उपस्थित होने का गौरव प्राप्त किया था और हर साल १२ दिन माँगे थे, जिनमें बादशाही मुल्कों में कोई जीव मारा न जाय और कोई आदमी किसी पक्षी, मछली और उनके सदृश जीवों को कष्ट न दे। उसकी प्रार्थना स्वीकार हो गई थी। अब मैं भी आशा करता हूँ कि एक सप्ताह का और वैसा ही हुक्म इस शुभचिंतक के वास्ते हो जाय। इसलिए हमने अपनी आम दया से हुक्म फ़रमा दिया कि अषाढ़, शुक्लपक्ष की नौमी से पूर्णमासी तक साल में कोई जीव मारा न जाय और न कोई आदमी किसी जानवर को सतावे। असल बात तो यह है कि जब परमेश्वर ने आदमी के वास्ते तरह-तरह के पदार्थ उपजाये हैं तब वह किसी जानवर को दुःख न दे और अपने पेट को

पशुओं का मरघट न बनावे। परंतु कुछ कारणों से अगले बुद्धिमानों ने वैसी तजवीज़ की है। इन दिनों आचार्य जिनसिंह उर्फ़ मानसिंह ने अर्ज़ कराई कि पहले जो ऊपर लिखे अनुसार हुक्म हुआ था वह खो गया है। इसलिए हमने उस फ़रमान के अनुसार नया फ़रमान इनायत किया है। चाहिए कि जैसा लिख दिया गया है वैसा ही इस आज्ञा का पालन किया जाय। इस विषय में बहुत बड़ी कोशिश और ताकीद समझकर इसके नियमों में उलट-फेर न होने दिया जाय। ता० ३१ खुरदाद इलाही सन् ४६।

हज़रत बादशाह के पास रहनेवाले दौलतखाँ के हुक्म पहुँचाने से, उमदा अमीर और सहकारी राय मनोहर की चौकी और ख़्वाजा लालचंद के वाक़िया (समाचार) लिखने की बारी में लिखा गया।"

इस फ़रमान से स्पष्ट है कि सूरि को बारह दिन के लिए जीवहिंसा न की जाने के विषय में तो फ़रमान मिला ही था। उनके बाद जयचंद्र सूरि को भी एक सप्ताह के लिए फ़रमान मिल गया था।

अकबर ने हीरविजय को जगद्गुरु की पदवी दी। इसके बाद हीरविजय ने शांतिचंद्र-नामक पंडित को उपाध्याय बनाकर अकबर के दरबार में छोड़ दिया और १५८४ ई० में आपने फ़तहपुर से प्रस्थान किया। कुछ दिन वे प्रयाग में रहे और कुछ दिन फिर आगरे में। तदनंतर आप गुजरात

को लौट गये। चार महीने, मार्ग में, आप सिरोही रहे। १५८७ में वे पाटन पहुँचे।

इधर शांतिचंद्र ने अकबर की तारीफ़ में कृपारसकोश नाम की एक पुस्तक बनाई। उसमें उसने अकबर के औदार्य और कारुण्य-दर्शक सारे सत्कार्यों का उल्लेख किया।

इस पुस्तक को शांतिचंद्र के मुख से सुनकर अकबर को बहुत संतोष हुआ। अतएव, पाटन में हीरविजय का दर्शन करने के अभिप्राय से शांतिचंद्र जब फ़तहपुर से बिदा होने लगे तब अकबर ने अपने हिंसा-प्रतिबंधक फ़रमान की एक कापी उनके हाथ में दी। उसमें उसने अहिंसा के समय की अवधि को और भी बढ़ा दिया और जज़िया-नामक कर उठा दिये जाने का भी हुक्म दिया—

जयवतां धुरि संस्थितिमादधे
नृपतिरेष तमुग्रकरं त्यजन्।

( कृपारसकोश )

सचमुच ही इस कर को उठाकर अकबर ने बहुत बड़ी नीतिनिपुणता दिखलाई। शांतिचंद्र के चले जाने पर भानुचंद्र-नामक जैन विद्वान् अकबर के दरबार में रहे। भानुचंद्र के सिद्धिचंद्र-नामक एक शिष्य था। इस सिद्धि-चंद्र ने बाणभट्ट की कादंबरी की टीका लिखी है। इस टीका के अंतिम वाक्यों से भानुचंद्र तथा उसके संबंध की कुछ विशेष बातें मालूम होती हैं। टीका का अंत इस प्रकार है—

"इति श्रीपादशाहश्रीअकब्बरजलालुद्दीनसूर्यसहस्रनामाध्यापकश्रीशत्रुंजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधायकमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणितच्छिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधकप्रमुदितपादशाहश्रीअकब्बरप्रदत्तखुशफ़हमपदाभिधान-महोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचितायां कादम्बरीटीकायामुत्तरखण्डटीका समाप्ता।"

इससे मालूम हुआ कि सिद्धिचंद्र के शतावधान से प्रसन्न होकर अकबर ने उन्हें खुशफ़हेम की उपाधि से भूषित किया था। इससे यह भी विदित हुआ कि भानुचंद्र ने अकबर को सूर्यसहस्रनाम पढ़ाया था और शत्रुंजय-तीर्थ के यात्रियों को जो कर देना पड़ता था उसे भी उन्होंने अकबर से माफ़ करा दिया था। परंतु हीरविजय सूरि के परामर्श से ही भानुचंद्र ने यह काम किया था। इसके लिए उन्हें काश्मीर जाना पड़ा था। यह बात १५९३ ईसवी की है।

इसके बाद विजयसेन सूरि को भी बुलाकर अकबर ने अपने यहाँ रक्खा। अनेक धार्मिक विषयों में उनसे अकबर ने वार्तालाप किया। उस समय वहाँ एक प्रकार का धार्मिक सम्मेलन-सा था। अनेक विद्वान् राजधानी में उपस्थित थे। उनसे विजयसेन सूरि का शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने ३६३ विद्वान् प्रतिवादियों का पराभव किया। उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर अकबर ने उन्हें स्वामी की पदवी

दी और विजयरत्न ने भानुचंद्र को उपाध्याय की पदवी। इस पदवीदान का जलसा बड़ी धूमधाम से हुआ। कृपारसकोश के कर्ता का कथन है कि इस उपलक्ष्य में शेख अबुलफ़ज्ल ने ६०० रुपये और कितने ही घोड़े आदि दिये—

शेखो रूपकषट्शतीं व्यतिकरे तत्राश्वदानादिभिः।

सन् १५८७ ईसवी में हीरविजय सूरि चार महीने पाटन में रहे। १५८८ में शाह सौवर्णिक तेजपाल की प्रदान की हुई सुपार्श्व और अनंत की मूर्तियों की उन्होंने प्रतिष्ठा कराई। १५९० में इसी तेजपाल की प्रार्थना पर शत्रुंजय-तीर्थ में सूरि महोदय ने आदीश्वर का मंदिर खोलने की धर्मक्रिया का समापन किया। इसके बाद दो-चार तीर्थों में पर्यटन और निवास करके वृद्ध वय में हीरविजय सूरि ने, १५९२ ईसवी में, शरीर छोड़ दिया। इस आदीश्वर के मंदिर में एक बहुत लंबा शिला-लेख, संस्कृत-पद्य में, उत्कीर्ण है। उससे भी सूचित होता है कि अकबर के दरबार में हीरविजय सूरि का बड़ा मान था। उनके विषय में इस शिला-लेख में लिखा है—

दत्तं साहसधीरहीरविजयश्रीसूरिराज्ञां पुरा<br>
यच्छ्रीशाहिअकब्बरेण धरणीशक्रेण तत्प्रीतये।<br>
तच्चक्रेऽखिलमप्यबालमतिना यत्स्याज्जगत्साक्षिकं<br>
तत्पत्रं फुरमाणसंज्ञमनघं सर्वा दिशो व्यानशे॥

विजयसेन के विषय में है—

ये च श्रीमदकब्बरेण विनयादाकारितः सादरं
श्रीमल्लाभपुरं पुरन्दरपुरं व्यक्तं सुपर्वोत्करैः।
भूयोभिर्व्रतिभिर्बुधैः परिवृता वेगादलंचक्रिरे
सामोदं सरसं सरोरुहवनं लीलामराला इव॥

अस्तु। पुराने जैन पंडितों की बदौलत संस्कृत-भाषा के साहित्य की बहुत वृद्धि हुई और इस देश में पशुहिंसा की कमी भी बहुत कुछ हुई। अतएव इस विषय में वे सर्वथा अभिनंदनीय हैं।

ऊपर, एक जगह, विजयप्रशस्ति-नामक महाकाव्य का उल्लेख हुआ है। उसमें २१ सर्ग हैं। हीरसौभाग्य की तरह उसमें भी हीरविजय सूरि का चरित है। साथ ही, अंत के कुछ सर्गों में, विजयसेन सूरि और विजयदेव सूरि का भी वर्णन है। इसके कर्ता का नाम हेमविजय गणि है। परंतु समग्र काव्य इनका लिखा हुआ नहीं। सोलह सर्ग लिख चुकने पर इनकी मृत्यु हो गई। अतएव अवशिष्ट पाँच सर्ग इनके गुरुभाई गुणविजय गणि ने बनाकर काव्य-पूर्ति की। गुणविजय ने इसकी एक टीका भी, विक्रम-संवत् १६८८ में, बनाई। यह सटीक-काव्य बनारस की जैन-यशोविजय-पाठ-शाला के अधिकारियों ने छपाकर प्रकाशित किया है। संपादन बड़ी योग्यता से हुआ है। पंडित हरगोविंद बेचरदास ने इसका संशोधन किया है। कोई सात सौ पृष्ठों

की जिल्द बँधी हुई पुस्तक है और पाँच रुपये में मिलती है। इसके नवें सर्ग में हीरविजय सूरि और अकबर के समागम का वर्णन है। उसमें भी प्रायः वही बातें हैं जिनका उल्लेख इस लेख में, ऊपर, किया जा चुका है। इतिहास-दृष्टि से यह काव्य बड़े महत्त्व का है। रचना इसकी प्रायः सरस और अर्थगांभीर्य-पूर्ण है।

जून १९१२

---

# आचार्य दिङ्नाग

महामहोपाध्याय डॉक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम्० ए०, पी० एच्-डी०, का लिखा हुआ—बौद्धन्याय-नामक एक लेख वंगीय साहित्य परिषत्पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। उसमें अनेक बौद्ध विद्वानों और उनके न्याय ग्रंथों का उल्लेख है। आचार्य दिङ्नाग का भी संक्षिप्त वृत्तांत उसमें है। वह विशेष मनोरंजक है और महत्त्वपूर्ण भी है। अतएव उसका आशय नीचे लिखा जाता है—

### दिङ्नाग का जीवनचरित

दिङ्नाग असाधारण नैयायिक थे। दक्षिण में कांची-नगरी के पास सिंहवक्र-नामक गाँव में उनका जन्म हुआ। वे जन्म से ब्राह्मण थे। बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर नागदत्त-नामक बौद्ध गुरु के वे शिष्य हुए। नागदत्त वात्सी-पुत्रीय-नामक हीनयान-संप्रदाय के अंतर्गत थे। इस संप्रदाय के धर्म-ग्रंथ त्रिपिटक का अच्छी तरह अध्ययन करके दिङ्नाग ने महायान-संप्रदाय में प्रवेश करने की चेष्टा की। अतएव आचार्य वसुबंधु के वे शिष्य हुए। उनसे महायान-संप्रदाय के सारे बौद्ध-ग्रंथ उन्होंने पढ़े। महायान-विद्या की अधिष्ठात्री देवी का नाम मंजुश्री है।

सुनते हैं, दिङ्नाग की भक्ति से प्रसन्न होकर वह स्वर्ग से मृत्यु-लोक में आई और दिङ्नाग के सामने उपस्थित हुई। उसकी कृपा से दिङ्नाग सारे शास्त्रों के असाधारण ज्ञाता हो गये। एक बार वे नालंद के विश्वविद्यालय के अधिकारियों के द्वारा बुलाये गये। वहाँ उन अधिकारियों की प्रेरणा से उन्होंने सुदुर्जय-नामक ब्राह्मण दार्शनिक को परास्त करके बौद्ध धर्म की विजय-पताका उड़ाई। उन्होंने और भी अनेक ब्राह्मण-तार्किकों को हराकर अपनी कीर्ति-कौमुदी से लोक-समाज को धवलित किया। इस उपलक्ष्य में उन्हें तर्क-पुंगव की पदवी मिली। उड़ीसा और महाराष्ट्र-देशों में परिभ्रमण करके दिङ्नाग ने अनेक तीर्थंकरों के मत का खंडन किया। महाराष्ट्र-देश के जिस विहार में वे रहते थे उसका नाम था आचार्य-विहार। उड़ीसा-प्रांत में उन्होंने भद्रपालित नाम के राजमंत्री को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता में दिङ्नाग सर्व-प्रधान थे। वे शील-पारमिता, शांति-पारमिता, वीर्य-पारमिता, दान-पारमिता आदि बारह पारमिताओं, अर्थात् बौद्धशास्त्रोक्त उत्कृष्ट बारह धर्मों, का अनुष्ठान करते थे। नालंद के विश्वविद्यालय में निवास करते समय दिङ्नाग ने सारे दार्शनिक विद्वानों को परास्त करके एक अपूर्व शिरोभूषण प्राप्त किया। उसका नाम था पंडितोष्णीश। आंध्र-देश के एक निर्जन विहार में उनकी मृत्यु हुई।

भारत के कितने ही स्थानों में दिङ्नाग को भ्रमण करना पड़ा था। सभी कहीं वे तर्क-युद्ध में प्रवृत्त हुए थे। जिस निर्दयता से वे अपने प्रतिपक्षी पर आक्रमण करते थे, प्रतिपक्षी भी उसी निर्दयता से उन पर आक्रमण करता था। उनका जीवन इसी घात-प्रतिघात—इसी लड़ाई-झगड़े—में बीता। जिस मल्ल-युद्ध में वे प्रवृत्त हुए थे उसका अवसान उनके मरने पर भी न हुआ। जो ग्रंथ वे लिख गये हैं, उत्तर-काल में, अनेक पंडितों को उन सभी ग्रंथों के मत के खंडन के लिए कमर कसनी पड़ी। मेघदूत-काव्य में दिङ्नाग का "स्थूलहस्त" परिहार करने के लिए महाकवि कालिदास को मेघ को सावधान करना पड़ा।

ब्राह्मण-वंशीय नैयायिक उद्योतकर ने अपने न्याय-वार्तिक-ग्रंथ के आरंभ में दिङ्नाग को "कुतार्किक" की पदवी से विभूषित किया। सर्वदर्शनस्वतंत्र वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग को "भ्रांत भदंत" कहकर उनकी भ्रांति के निवारण की चेष्टा की। मल्लिनाथ ने दिङ्नाग को "अद्रिकल्प" विशेषण से विभूषित किया। कुमारिलभट्ट और पार्थसारथि मिश्र ने दिङ्नाग पर अबाध बाण-वर्षा की। सुरेश्वराचार्य आदि वेदांतवेत्ताओं और प्रभाचंद्र, विद्यानंद आदि जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग का मत लुप्त करने के लिए बहुत प्रयास किया। यहाँ तक कि पीछे-पीछे किसी-किसी बौद्ध नैयायिक को भी दिङ्नाग के ग्रंथों के किसी-किसी मत के

खंडन का प्रयत्न करना पड़ा। दिङ्नाग सचमुच ही वीर पुरुष थे। उनमें असामान्य मनोबल और दैहिक तेज था। यदि ऐसा न होता तो अनेक दिशाओं से किये गये इतने आघात सहन करके वे इतने समय तक कभी जीते न रहते। दिङ्नाग के ग्रंथ भारत से लुप्त हो चुके हैं। नेपाल में भी वे रक्षित नहीं, किंतु पृथ्वी से एकदम ही लुप्तप्राय नहीं हुए। तिब्बत में दिङ्नाग के ग्रंथ यत्न-पूर्वक सुरक्षित हैं।

### दिङ्नाग का आविर्भाव-काल

अनुमान यह है कि ५०० ईसवी में दिङ्नाग जीवित थे। उनके गुरु आचार्य वसुबंधु ४८० ईसवी में विद्यमान थे। दिङ्नाग के दो ग्रंथों का अनुवाद, ५५७-५६९ ईसवी में, चीनी भाषा में हुआ। जिस समय आंध्र-देश में दिङ्नाग का प्रादुर्भाव हुआ, जान पड़ता है, उसी समय दक्षिण में पल्लववंशीय नरेशों का आधिपत्य था। पल्लववंशीय नरेशों में से अधिकांश नरेश बौद्ध धर्म के अनुगामी थे।

### दिङ्नाग का प्रमाण-समुच्चय

दिङ्नाग का सर्व-प्रधान ग्रंथ प्रमाण-समुच्चय है। किसी समय आंध्र-देश की वेंगी नगरी के पास एक निर्जन पर्वत के ऊपर वे रहते थे। उसी समय उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की थी। प्रमाण के संबंध में दिङ्नाग ने, समय-समय पर, जिन श्लोकों की रचना की थी उन्हीं सब श्लोकों का संग्रह एक जगह करके उन्होंने उसका नाम प्रमाण-समुच्चय रक्खा।

ईश्वरकृष्ण के साथ दिङ्नाग का विरोध

सुनते हैं, जिस समय दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय का पहला श्लोक बनाया उस समय भीषण भूकंप हुआ। आंध्र-देश प्रकाश-पुंज से चारों तरफ़ समुज्ज्वल हो उठा और सब कहीं कोलाहल मच गया। इसके अनंतर एक दिन ईश्वरकृष्ण-नामक एक ब्राह्मण दार्शनिक दिङ्नाग के शैल-विहार में आया। उस समय दिङ्नाग विहार में न थे। दिङ्नाग-लिखित प्रमाण-समुच्चय का पहला श्लोक जो ईश्वरकृष्ण की दृष्टि में पड़ा तो वे उसे फाड़कर चलते बने। दिङ्नाग ने आश्रम में लौटकर देखा तो श्लोक नदारद। अतएव उन्होंने उसे फिर लिखा। ईश्वरकृष्ण ने दुबारा आकर उस श्लोक को फिर नष्ट कर दिया। तीसरी दफ़े दिङ्नाग ने फिर भी उसे लिपिबद्ध किया। इस दफ़े उपद्रव-कारी को सावधान करने के लिए, श्लोक के नीचे, उन्होंने इस आशय का एक लेख लिख दिया—"हम नम्रता-पूर्वक निवेदन करते हैं, कोई इस श्लोक को, खेल के बहाने भी, नष्ट न करे। अर्थगांभीर्य में यह श्लोक अतुलनीय है। इस श्लोक के भाव-संबंध में यदि कोई हमारे साथ विवाद करना चाहे तो वह हमारे सामने उपस्थित हो। हमारी अनु-पस्थिति में उसे कापुरुषता न करनी चाहिए।"

दिङ्नाग बौद्ध भिक्षु थे। नियमानुसार भिक्षा के लिए उन्हें रोज़ बाहर नगर में जाना पड़ता था। ऐसे ही समय

में ईश्वरकृष्ण फिर भी उनके विहार में आये। उन्होंने इस श्लोक के नीचे दिङ्नाग की प्रार्थना पढ़ी। पढ़ने से उनके हृदय में साधु-भाव का संचार हो आया। वे चुपचाप वहाँ खड़े रहे। विहार को लौटने पर दिङ्नाग उनके साथ तर्क-युद्ध में प्रवृत्त हो गये। शर्त यह हुई कि जो परास्त हो वह विजेता का धर्म ग्रहण करे। ईश्वरकृष्ण परास्त हो गये, पर उन्होंने दिङ्नाग का धर्म न स्वीकार किया। दिङ्नाग ने जब उन्हें शर्त की याद दिलाई तब मंत्रोच्चारण-पूर्वक ईश्वर-कृष्ण ने दिङ्नाग के विहार में आग लगा दी। वह जलकर भस्म हो गया। दिङ्नाग के पास पोथी-पत्रा जो कुछ था सब जल गया। दिङ्नाग बहुत चिंतित हुए। उन्होंने सोचा—"हम एक मनुष्य को सत्पथ में न ला सके। फिर भला और लोगों के लिए मुक्ति-प्राप्ति का उपाय हम क्या बता सकेंगे?" उन्होंने अपने को बहुत धिक्कारा और प्रमाण-समुच्चय ग्रंथ लिखने का विचार छोड़ दिया। इसी समय बोधिसत्त्व मंजुश्री उनके सामने आकर उपस्थित हुए और बोले—

"वत्स, शांत हो। जिस शास्त्र का लिखना तुमने आरंभ किया है उसे कोई नष्ट न कर सकेगा। हम तुम्हारे शिक्षा-गुरु हैं। संसार के सारे तीर्थंकर भी तुम्हारे मत का निरा-करण न कर सकेंगे। तुम जिस शास्त्र की रचना कर रहे हो वह सकल शास्त्रों का नेत्र है। वह अनेक मनुष्यों को मुक्ति का पथ दिखावेगा।"

यह कहकर मंजुश्री अंतर्द्धान हो गये। उस अवसर पर दिङ्मंडल बड़े ही समुज्ज्वल प्रभापुंज से प्रकाशित हो गया। आंध्र-देश का राजा दिङ्नाग के पास आया और उसने अनुरोध किया कि आप हेतु-विद्या-शास्त्र की अवश्य रचना करके उसे समाप्त कीजिए। तब दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय-नामक ग्रंथ लिखना आरंभ कर दिया।

### प्रमाण-समुच्चय का प्रतिपाद्य विषय

प्रमाण-समुच्चय का छंद अनुष्टुप् है। हेमवर्मा नाम का एक भारतीय बौद्ध पंडित था। उसी ने दे-प-शे-ख नामक तिब्बतीय राज-लामा के साथ प्रमाण-समुच्चय का अनुवाद तिब्बतीय भाषा में किया। तिब्बत के शे-पइ-गे-ने नामक विहार में यह अनुवाद-कार्य समाप्त हुआ। तिब्बतीय भाषा में इस ग्रंथ का नाम है—"छे-म-कुंत-इ"। ग्रंथ के आरंभ में दिङ्नाग ने लिखा है—

"जो जगत् का हितसाधक और प्रमाण का अवतार-रूप है उसी सर्वशरण्य महागुरु सुगत के चरणों में सिर रखकर, इधर-उधर बिखरे हुए प्रमाण-विषयक वचनसमूहों का एकत्र संग्रह करके, मैं इस ग्रंथ की रचना करता हूँ।"

ग्रंथांत में दिङ्नाग ने लिखा है—

"सर्वदेशीय तार्किकों का पराभव करनेवाले और हाथी के सदृश बलसंपन्न दिङ्नाग ने, अपने ही रचे हुए श्लोकों का संग्रह करके, इस ग्रंथ का प्रकाशन किया।"

प्रमाण-समुच्चय ६ परिच्छेदों में विभक्त है—(१) प्रत्यक्ष, (२) स्वार्थानुमान, (३) परार्थानुमान, (४) त्रिरूप हेतु, (५) प्रत्यक्ष उपमान और शब्द-खंडन, (६) जात्युत्तर-विचार।

इसके आगे विद्याभूषण महाशय ने प्रमाण-समुच्चय में लिखी गई बातों का विवेचन विस्तार के साथ किया है। उस विवेचन को हम छोड़े देते हैं; क्योंकि पाठकों में से बहुत कम को वह रुचिकर होगा।

लेखारंभ में डॉक्टर विद्याभूषण ने कालिदास की उस उक्ति का उल्लेख किया है जिसमें दिङ्नाग के "स्थूलहस्त" की बात है। यह उक्ति मेघदूत के चौदहवें श्लोक के चौथे चरण में है। यथा—

"दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्"

जिस पर्वत पर यक्ष था उससे रवाना होने की प्रार्थना मेघ से करके वह कहता है कि जब तू इस पर्वत के ऊपर से उड़ता हुआ आगे बढ़ेगा तब सिद्धों की स्त्रियों के मन में यह भ्रम उत्पन्न होगा कि कहीं पर्वत के किसी टुकड़े को हवा तो नहीं उड़ाये लिये जा रही। इसी के आगे यक्ष ने कहा है कि जब तू पहाड़-सा काला-काला आकाश में उड़ता दिखाई देगा तब तुझे देखकर दिग्गजों का गर्व चूर हो जायगा। वे अपने को बहुत विशालकाय समझते हैं। परंतु जब वे तुझे अपने से भी बड़ा देखेंगे तब उनको

अपने भ्रम का ज्ञान हो जायगा। इससे सिद्ध है कि कालिदास की उक्ति का प्रकृत संबंध दिग्गजों से ही है। दिङ्नाग नाम आ जाने से श्लेष-शक्ति से यदि उन्होंने आचार्य दिङ्नाग पर कटाक्ष किया हो तो यह भी असंभव नहीं। दिङ्नाग अवश्य ही बड़े उद्धत और अतुल-अवलेप-पूर्ण थे। यदि किसी प्रकार यह बात सप्रमाण सिद्ध हो जाय कि मेघदूत का पूर्वोक्त पद अवश्य ही श्लिष्ट पद है तो कालिदास के समय-संबंध में भी यह निश्चय हो जाय कि वे ५०० ईसवी के ही आसपास विद्यमान थे; ईसा के ५६ वर्ष पहले, विक्रमादित्य की सभा में, न थे।

अगस्त १९१५

---